

निगमागमसमन्वय

प्रकाशक :
श्री पीताम्बरापीठ
दतिया (म. प्र.)

संपादक :
डॉ. स. मो. अयाचित

निगमागमसमन्वय

संपादक
डॉ० स. मो. अयाचित
हस्तलिखिताधिकारी,
नागपुर विद्यापीठ



श्री पीताम्बरा संस्कृत परिषद्
पीताम्बरापीठ, दतिया (म. प्र.)

प्रकाशक
श्री पीताम्बरा संस्कृत परिषद्
पीताम्बरा पीठ, दतिया (म. प्र.)

प्रथम संस्करण : सं. २०४२
२००० प्रतियाँ
१-९-१९८५

मूल्य ३०) रुपये

मुद्रक
स्वाती एण्टरप्राईज
२० ग्रेटनाग रोड
नागपुर-९

भूमिका

मध्यप्रदेशस्थ दतिया नगर में श्री पीतांबरापीठ की ओर से गत वर्ष में एक अखिल भारतीय गोष्ठी का आयोजन किया गया था। विषय था निगम और आगम यानी वेद और तंत्र के साहित्य समुदाय का समन्वय की दृष्टि से विचारविमर्श। वैसे पंडितो का संमेलन और चर्चासत्र करीब एक सप्ताह तक चला। लेकिन इस महत्त्वपूर्ण विषय का विशेष गांभीर्य से आखरी में छह मई (१९८४) को परामर्श ले लिया गया, जहाँ भारत के प्रकांड पंडितोंने अपने अपने विद्वत्ताप्रचुर और अनुभवसंपन्न विचारों से भरे हुए लिखित निबंध सादर किये।

वैसे वेदों पर अनेकानेक विद्वानोंने प्राचीन काल से अपने विचार व्यक्त किये हैं, और आधुनिक काल में पाश्चात्य संशोधकों का भी वेदों का अभ्यास चिकित्सक मंडली में मान्य हुआ है। तंत्रों का भी विशेष अभ्यास यद्यपि भारत में प्राचीन काल से ही हो रहा है, तथापि पाश्चात्य चिकित्सकों ने इस विषयपर समाजशास्त्रीय दृष्टि-कोण अपनाकर संशोधनात्मक प्रयास आरंभ कर दिये, और तत्पश्चात् भारतीय पंडितोंने भी इस चिकित्सात्मक वाङमय में अपना बहुमूल्य योगदान किया। लेकिन वेदों की और तंत्रों की परंपराएँ एक साथ जुडी होने पर भी कुछेक विचारों पर भेद होने से और आचारों में भी तदनुकूल विविधता मिलने से इन दोनों परंपराओं का एकत्रित और सविस्तर विचार करने की बहुत आवश्यकता थी। केवल भारत में ही नहीं, बल्कि भारत के बाह्य राष्ट्रों में भी तांत्रिक आचार सदियों से मिलते रहे हैं, जिससे हिंदू धर्म के साथ ही बौद्ध, जैन और ईसाई धर्म भी प्रभावित होने से नहीं बचे। महंमदी धर्म भी इसी आचारविचारों से बहुत हद तक अलग नहीं रह सका। इसका

कारण यही है कि मनुष्य की आध्यात्मिक और आधिदैविक विचार-धारा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समान रही है। जो विस्तार में भेद पाये जाते हैं वे केवल सामाजिक इतिहास के अंगभूत मानकर ही विचारविषय हो सकते हैं। यह परंपरा इतनी पुरातन है कि इसकी जड़ें अभी ढूंढ निकालना संशोधकों के बस की बात नहीं रही। मूलरूप में तंत्र का उद्भव हिंदुओं में हुआ या बौद्धों में, यह भी एक विवाद का विषय रहा है। लेकिन जब तंत्र का प्रारंभिक विकास अथर्ववेद में पूर्णरूप से दिखाई देता है, तो अनायास ही बौद्ध धर्म में तंत्र का उद्गमस्थान खोज निकालने का प्रयास व्यर्थ रहता है। इस विषय में संशोधकों के विचार अवश्य मननीय हैं, लेकिन वह विषय अब पूरी तरह से इतिहास का भाग बन चुका है। उससे अधिक उपयुक्त विषय दोनों परंपराओं के परस्पर संबंध का है, जो कि समाज के लिये ज्यादा दिलचस्प और मीमांसा योग्य रहा है। वेदों के और तंत्रों के अभिमानी अपनी अपनी परंपरा को अभ्यर्हित समझते हैं, और वह स्वाभाविक भी है। लेकिन इन दो परंपराओं में यदि हम समानरूप से प्रमाणविचार दृढ कर सकेंगे, तो धार्मिक इतिहास में यह एक आगे का कदम होगा। इतना ही नहीं, प्रामाण्यविचार महत्त्वपूर्ण माननेवाले आस्तिकों में इससे सहायता और बढावा मिलता है। तांत्रिक आचारों का भी यथेष्ट परिशीलन इसी लिये आवश्यक है; जिससे धर्म की और समाज की दृष्टि से उनकी ग्राह्याग्राह्यता का विचार प्रधान समाज निर्णय कर सके। इन विचारों को ध्यान में रखते हुए इस संगोष्ठी का आयोजन उचित दिशा में था।

पीतांबरापीठ के कार्यकर्ताओं का यह आयोजनात्मक उपक्रम अभिनंदनीय है ही। लेकिन ऐसी बहुतसी परिषदों के चर्चासत्र संमेलन के बाद विलुप्त हो जाते हैं, और उनका मूल उद्देश्य पूरा नहीं होता। इसी लिए पंडितों के ये विचार ग्रंथरूप में प्रकाशित करने का यह प्रयास स्थिर फलदायक होने से अधिक बधाई देने

योग्य है । मुझे पूरा विश्वास है कि विद्वज्जनों में ग्रंथ का हृदय से स्वागत होगा । पीतांबरापीठ का अन्य प्रकाशनकार्य भी इसी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है । यह एक और हर्ष की बात है कि इस ग्रंथ का प्रकाशन एक ऐसी संस्था के तंत्रसंप्रदाय विषयक संगोष्ठी के समय हो रहा है, जो कि बहुत कम समय में उपेक्षित विषयपर विचारमंथनात्मक कार्य बहुत कुछ करके मान्य हुई है । अतः ठाणे प्राच्यविद्यासंस्था के हम आभारी हैं ।

इन निबंधों में से एक के लेखक का नाम नहीं मालूम हो सका । यह लेख डाकद्वारा उज्जैन से हमारे पास आया और पूछताछ के बाद भी लेखक का नाम अज्ञात ही रहा । श्री बी. एस्. कृष्णन्‌जी के विचार हमने इस लिये निबंधों में समाविष्ट किये कि उनकी विवेचना और साधना हमेशा आदरणीय रही है । यद्यपि उनका संस्कृत का अभ्यास पारंपरिक रीति से नहीं हुआ है, फिर भी उनका बौद्धिक आलोक और आचार की प्रामाणिकता विशेष कुतूहल का विषय है। इन्होंने व्यक्तिगत रीति से तांत्रिक परंपरा को नया आयाम देने का प्रयास बडी अभिज्ञता से किया है । समन्वयात्मक विचार की ओर अन्य पंडितों के विचार भी उपादेय हैं, लेकिन वह इस उपक्रम का विस्तार होगा । हमें आशा है कि पीतांबरापीठ ही यह विषय आवश्यकतानुसार आगे बढ़ाएगा ।

डॉ. भारद्वाज आचार्यजी का आशिर्वाद इस ग्रंथ को मिला यह भी एक सौभाग्य की बात है । आचार्यजी पाश्चात्य और पौरस्त्य अनेक विषयों में ज्ञाता और प्रवीण होनेपर भी जो सामान्य लोगों में रहकर विधायक विकासकार्य कर रहे हैं वह उनके सांनिध्य में आनेवाले व्यक्तियों के लिए बहुत प्रेरणादायक है । ज्ञान और कर्म का तथा वैदिक और तांत्रिक आचारों का वे एक आदर्श हैं ।

स्वाती मुद्रणालय से मेरा इसी सिलसिले में संबंध आया और श्री अंबिकाप्रसाद त्रिपाठीजी का सहयोग यह एक मेरे लिए आश्चर्य और हर्ष की बात हो गयी । त्रिपाठीजीने मुद्रण के बारे में इतना

अच्छा काम किया है कि मेरे लिए अंतिम शोधपत्र देखने के सिवा और कुछ जिम्मेदारी नहीं रही। उन्होंने केवल अधीक्षक का ही नहीं, विचारपूर्वक और सूक्ष्म दृष्टि से मुद्रणशोधन भी किया।

इसी संदर्भ में यह निर्देश आवश्यक होगा कि ग्रंथ का अंतिम निबंध संगोष्ठी का भाग नहीं था। परमपूजनीय पीठाधिपति के प्रति अनन्य भक्तिभाव रखनेवाले हमारे एक स्नेही बन्धुने बडे प्रेमसे मुझे यह विद्याकार्य करने को प्रोत्साहन दिया और उन्हीं के आग्रह से मैंने इस विषयपर अपने विचार पंडितों के अभिप्रायसंकलन के साथ देने को अनुमति दी। संगोष्ठी के समय भी उन्होंने मुझे निमंत्रित किया था, लेकिन कारणवश मै नहीं जा सका। उसी संगोष्ठी का एक प्रकार से समारोपकार्य मुझे ही करना पडेगा यह मैं कैसे सोच पाता। वैसे मैं तांत्रिक संप्रदाय का बडे जोश से प्रसंगानुसार विरोध करता आया हूँ। लेकिन विचार और इतिहास का परीक्षण एक विद्याकार्य है, जो हमेशा मेरे लिए मुग्ध आकर्षण का विषय रहा है। साथही पीतांबरापीठाधिपति स्वामीजीका कार्य इतना संमाननीय और उच्चस्तरीय है कि उनके प्रति मेरा अपना असीम आदर भाव कर्मणा-मनसा-वाचा व्यक्त करने का अवसर मुझे देने के लिए मै अपने स्नेही बन्धु का ऋणी हूँ। जिस आत्मीयता से वे मुझे हर प्रकार प्रोत्साहन दे रहे हैं वह उनकी सहृदयता का और विद्याप्रेम का द्योतक है। मै आशा करता हूँ कि 'तांत्रिक' कारणों से अनधिकारी होनेपर भी मेरे विचार तंत्रसंप्रदाय के विद्वानों को स्वीकार्य होंगे।

—डॉ. स. मो. अयाचित

—:०:—

प्रकाशकीय

पूज्यपाद स्वामी जी महाराज ने पञ्चोपनिषद् की भूमिका में लिखा है कि वेद और तन्त्र में अनेक समानतायें हैं। जिस प्रकार विद्वानों ने शैव, वैष्णव, शाक्त आदि अनेक सम्प्रदायों में सामञ्जस्य का प्रयास किया है उसी प्रकार वेद और तन्त्र में सामञ्जस्य का प्रयास किया जाना चाहिए। इस वाक्य को आदेश स्वरूप मानकर पूज्यपाद् के विग्रहस्थापनादिवस पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया, उसका विषय ही "आगम और निगम में समन्वय" था। इस संगोष्ठी में देश के लगभग पन्द्रह मूर्धन्य विद्वानों ने भाग लिया। उनके द्वारा पठित निबन्धों को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित करते हुए परम प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ "निगमागमसमन्वय" विषय पर एक अभिनव एवं अद्वितीय प्रयास है। इस ग्रन्थ के द्वारा पूज्यपाद के आदेश की पूर्ति की गई है। पूज्यपाद के आशीर्वाद से यह कार्य और आगे बढ़ेगा, ऐसी आशा है।

संगोष्ठी के आयोजन म एवं ग्रन्थ संकलन में आश्रम के विद्वान साधक स्व. कृष्णानन्द बुधौलिया जी का सक्रिय योगदान रहा है।

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रदर्शन करता हूँ जिन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण निबन्धों को प्रकाशित करने की सहर्ष अनुमति प्रदान की है।

विनीत
ललिता प्रसाद शास्त्री
मन्त्री
श्रीपीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद्
दतिया

गुरुपूर्णिमा
सं. २०४२
२ जुलाई १९८५

विषयानुक्रमणिका

–:०:–

॥ श्री ॥

तन्त्र-पूर्वतन्त्रयोर्नैकट्यम्

ले. – पट्टाभिरामशास्त्री 'पद्मभूषणः'

काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी ।



पवित्रतमेऽस्मिन् भारतवर्षेऽतिचिरन्तनादेव कालात् केनापि विद्यास्थानेन विना जगतो वर्तनमसम्भवमिति निर्द्धारयन्तः प्राञ्चोऽष्टादश विद्यास्थानानि प्रवर्तयाम्बभूवुः । एकदा महर्षीणां समवाये विचिकित्सा समभवत्–जगतीतले सर्वोत्कृष्टतमं वस्तु किमिति । तत्र सत्यवचा राभीतरो नाम्ना प्रत्यपादयत्-'सत्यमि'ति । नाम्नापौरुषिष्टिः 'तप' इति प्रतिपादयाम्बभूव, मौद्गल्यो नाम्ना नाकः'स्वाध्यायप्रवचने एवेति' स्वीयं मतमाविरकार्षीत् । मतमिदमुत्कृष्टतमं मेनिरे महर्षयः, यतो हि स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां सत्यस्य तपसश्च स्वयमेव सिद्धिर्भवेदिति । स्वाध्यायो नाम स्वकुलक्रमागतः कृतकेतरशब्दराशिरभिधीयते । शब्दराशिरयं भारतीयानां महान् खनिः । एतन्मूलकमेव सर्वमपि संस्कृतवाङ्मयं साधयन्ति शास्त्रविदः । किं बहुना ? जगत्स्रष्टा चतुर्वदनोऽपि 'भूरितिवाऽयं लोकः' भुवइत्यन्तरिक्षम्, सुवरित्यसौ-लोकः' इति श्रुति सन्दर्भेण प्रतीयते भूः भुवः सुवरिति व्याहृतिभि-र्लोकत्रयं ससर्जेति । शब्दस्यायं महिमा–यदसाध्यमपि कार्यं साधयितुं शक्यत इति । शब्दो हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मातिसूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवञ्जातीयकमर्थमवबोधयितुं यादृशं सामर्थ्यं

मावहति न तादृशमन्यत्किमपि । यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् । 'शब्दः किमिव न करोति' इत्याद्यभिदधाना मीमांसा भाष्यकाराः श्रीशबरस्वामिनः शब्दगतं महत्त्वमवद्योतयन्ति । किन्तु तेन शब्देन कृतकेतरेण भवितव्यम् । अर्थात् पुरुषदोषलेशासंस्पृष्टेन भवितव्यम् । स च शब्दोवेदाभिधानः । शब्दश्च वर्णात्मको नित्यो विभुश्चेति मीमांसकानां राजमार्गः । एतादृशशब्दग्रहणस्य मुख्य उपायो गुरुमुखोच्चारणानुच्चारणरूपमध्ययनमेव । गुरुणोच्चरितं कृतकेतरं शब्दं सावधानेन मनसा निशम्य तदनूच्चारणं यच्छिष्यकर्तृकं वाचिकं कर्मैवाध्ययनमित्युच्यते । अध्ययनावसर एवेदमभ्यस्यते—यन्मनसो वाचःकर्मणश्चैकरूपत्वम् । गुरुरध्यापयन् स्वयं मनसश्चक्षुषो वागिन्द्रियस्यैकरूपत्वमापाद्यान्तेवासिनोऽपि तेष्वेकाग्रतामापादयतीति प्रत्यक्षमिदम् । अन्तेवासी गुरोर्वाग्व्यापारं शृणोति पश्यति मनसा चावधारयन् अनुच्चरति । एवं गुरोश्शिष्यस्य च मनसा वाचा कर्मणा चैकरूपत्वं बाल्यकालादेवाभ्यस्याधीतिनः उत्तरत्र कर्मानुष्ठानकाले मन्त्रजपावसरे ध्यानसमये चाभ्यस्तं द्रढीकुर्वन्ति । इयं स्थितिर्निगमाध्यायिनाम् । अतएव निगमा वेदाः 'श्रुति' शब्दाभिधेया भवन्ति । यथा वेदाः श्रुतिपदाभिधेयास्तथा सर्वाणि शास्त्राणि दर्शनान्यागमाश्च 'श्रुत' शब्दाभिधेया जाताः । इदमेकं साम्यं निगमानामागमानाञ्च ।

इयांस्तु विशेषः– श्रुतिः कृतकेतरशब्दमयी, श्रुतञ्च श्रुतिमूलकं कृतकम् । कृतकत्वेऽपि तस्य प्रामाण्ये न काचिन्न्यूनता, मूलभूतश्रुतेरनुमानात् । मूलश्रुतेरनुमाने कर्तृसामान्यं जैमिनिः हेतुं परिगणयति । इतर श्रुतापेक्षया आगमेषु किञ्चिद्वैलक्षण्यं वर्तते । आगमाः प्रायेण प्रश्नोत्तररूपेण प्रवृत्ताः । श्रुतावपि तथाविधान् सन्दर्भाननुभवामः । आगमातिरिक्तेषु श्रुतशब्दाभिधेयेषु सूत्रेषु स्मृतिग्रन्थेषु च निगमांशभूमिष्ठेष्वपि कल्पसूत्राधिकरणन्यायेन कृतकत्वं प्रामाण्यञ्चावधृतं शास्त्रविद्भिः । तथैवागमानामपि स्थितिस्तेनैव न्यायेन प्रकारेण च साधयितुं शक्यत इति । किञ्च मूलभूतवेदानुमानस्य जैमिनिना निर्दिष्टो यो हेतुः 'कर्तृसामान्यात्' इति स मन्वादिभिर्विरचितेषु

स्मृतिसन्दर्भेषु यद्यपि समन्वितो भवेत् तथापि यदि प्रत्यक्षश्रुति विरुद्धं स्यात्स्मृतिवाक्यं लोभादिकारणकं वा भवेत्तर्हि तस्याप्रामाण्यस्वीकारे न मीमांसकानां सङ्कोचः। स्वयूथ्यो वा भवतु परयूथ्यो वा, परस्यापि वाक्यं श्रुतिमूलकं चेत्तस्य प्रामाण्याङ्गीकारे, स्वीयस्यापि वाक्यं श्रुतिविरुद्धं चेद्भवेत्तस्याप्रामाण्यस्वीकारे न्याय्यो मार्गोऽवलम्ब्यते मीमांसकैः। अनेनैव न्यायेनागमा अपि नेतव्या भवन्ति।

तत्र यथा वेदेषु ज्ञानकाण्डं कर्मकाण्डम् उपासनाकाण्डमिति त्रेधा विभागः, तथैवागमेष्वपि ज्ञानकाण्डं चर्याकाण्डमुपासनाकाण्डमिति त्रयो विभागा वर्तन्ते। निगमानामागमानाञ्च साम्यमेतत्कृतमप्यङ्गीकर्तुं शक्यते। यथा व्याकरणादीनि शासतीति शास्त्राणि कथ्यन्ते, तथैवागमोऽप्यनुशास्तीति शास्त्रम्। व्याकरण साधुशब्दप्रयोगं शास्ति, न्यायस्तु प्रमाणप्रमेयजातं शास्ति, मीमांसा कर्तव्यपदार्थानादिशति, उत्तरमीमांसा स्वस्वरूपावाप्ति पन्थानमनुशास्ति इतीमानि शास्त्राणि भवन्ति, तथैवागमशास्त्रमपि पूर्वमीमांसाया उत्तरमीमांसायाश्च कार्यं सम्पादयतीति तस्य शास्त्रत्वे कस्सन्देहः? आच बाल्यादाचवार्द्धक्यान्मानवैरनुशासने वर्तितव्यमिति शास्त्राणां परममुद्देश्यम्। साधूनां शब्दानां प्रयोगेण वागिन्द्रियस्य सत्यत्वम्, सतां पदार्थानां यथायथं स्वरूपावगमनेन मानसिकममृतत्वम्, कर्तव्यानां पदार्थानामनुष्ठानेनाकर्तव्यानाञ्च त्यागेन चित्तवृत्तेस्सूक्ष्मवस्तुस्वरूपग्राहकत्वम्, तदनुसूक्ष्मवस्तुपरिप्राप्तिरिति शास्त्राणामेषां प्रयोजनानि परिगण्यन्ते।

आगम प्रतिपाद्यं तन्त्र शास्त्रमधिकृत्य किञ्चिद्विमृशामः— तन्त्र शास्त्रं पूर्वोक्तैश्चतुर्भिश्शास्त्रैराविष्कृते पथि गच्छतीति तावदविवादम्। तत्र वेदवाक्यार्थनिर्णयाय प्रवृत्तं शास्त्रं वाक्यशास्त्रं मीमांसाशास्त्रमित्यादिभिः पदैर्व्यवह्रियते। मीमांसाशास्त्रेण निर्णीतानामेव न्यायानां सर्वत्र संस्कृतवाङ्मये सञ्चारः क्रियते। इमान् न्यायान् सर्वेऽपि शास्त्रकाराः स्वस्ववाक्यार्थनिर्णयाय परिगृह्णन्ति। श्रीमतां भास्कररायाणां ग्रन्थेषु पठ्यमानेषु स्पष्टमवगम्येत यत्ते मीमांसानयसिद्धान्न्यायान् कथं विनियुञ्जत इति। तदिदमग्रे किञ्चिदिव निरू-

पयिष्यामः । पूर्वमीमांसाशास्त्रेण तन्त्रशास्त्रस्य साम्यंवैषम्यं च विचारिते निगमागमयोः स्वयमेव समन्वयस्साधितो भवेदिति तर्कयामि । यतश्च मीमांसाशास्त्रस्य वेदेन सह यादृशं नैकट्यं तादृशं तन्त्रशास्त्रस्यापि सिद्धं भवेत् । साम्यं वैषम्यञ्च शब्दतोऽर्थतश्चेति द्विधा भवति । शब्दतस्साम्ये विलोक्यमाने मीमांसायास्तन्त्रशास्त्रेण सह साम्यभूयस्त्वमनुभवामः । उभे अपि पूर्वोत्तरमीमांसे पूर्वतन्त्रम् उत्तरतन्त्रमिति व्यवह्रियेते । अत एव पूर्वतन्त्रे 'तन्त्रवार्तिकम्' 'तन्त्र रहस्यम्' 'तन्त्रसिद्धान्तरत्नावलिः', 'तन्त्रसारः' 'तन्त्रशिखामणिः' इत्यादीनि तन्त्रशब्दघटितानि नामानि ग्रन्थानामुपलभ्यन्ते । न केवलं ग्रन्थानां नामानि, किन्तु नैमिनिविरचितेषु द्वादशसु अध्येष्वेकादशाध्यायस्य तन्त्राध्याय इति व्यवहारः । एतावानत्र विशेषः- तन्त्रशास्त्रे ग्रन्थस्यान्ते तन्त्रशब्द योगः- वाराहीतन्त्रम् योगिनीतन्त्रमित्येवम् मीमांसायान्तु आदौ तन्त्रशब्दयोगः ।

एतेनेदमभ्यूहितुं शक्यते–यदेकदा भारते तन्त्रशास्त्रस्य भूयान् प्रचार आसीत् । सर्वेऽपि शास्त्रकारा तेन प्रभाविता अभवन् । यथा ह्यद्यतनेषु दिनेषु विज्ञानस्य प्रमुखतया प्रचारपथमानीतस्य प्रभावेण 'नाडी विज्ञानम्' 'भाषाविज्ञानम्' 'आयुर्विज्ञानम्' 'पञ्चभूतविज्ञानम्' इत्येवं स्वस्वप्रतिपाद्यविषयाणां नूतनत्वावद्योतनाय विज्ञानपदघटितानि नामधेयानि कल्पयन्तो दृश्यन्ते, तथैव प्राक्तनेष्वपि कालेषु तन्त्रपदघटितान् ग्रन्थान् निवबन्धुमीमांसका इति । अथवा पूर्वमीमांसायां रूढस्य तन्त्रपदस्य यौगिकविशेषार्थावबोधनाय तन्त्रशास्त्रकाराः तन्त्र, पदं संयोजितवन्तस्स्युः, पूर्वमीमांसातौल्यं स्वशास्त्रस्यावद्योतयितुमिव तन्त्रपदं घटितवन्तस्स्युः । अस्तु यथा तथा वा । तन्त्रशास्त्रं यथान्यानि शास्त्राणि सम्प्रदायतः गुरुपारम्पर्येण प्रवृत्तानि, तथा तन्त्र शास्त्रमपि चिरन्तनादेव कालात्प्रवृत्तमिति । अत्र कस्यानुकार्यत्वं कस्य चानुकारकत्वमिति निश्चयो दुष्करः । यथा मीमांसकाः यागो होमो दानं भक्षणमिति कर्मकाण्डेषु शब्दान् व्यवहरन्ति, तथा तन्त्रशास्त्रकारा अपि यागः, होमः, महायागः, अन्तर्यागः, बहिर्यागः याग-

शाला द्रव्यं देवता क्रमः प्रयोगः अधिकार इत्यादीन् शब्दान् व्यवहरन्ति। अनुकार्यत्वं यस्य कस्यापि भवतु किन्तु चिरन्तनादेवकालादुभे अपि शास्त्रे प्रवर्तेते इति तावदङ्गीकर्तव्यम्। निगमेषु मन्त्रः भूः भुवः स्वः इति व्याहृतयः प्रसिद्धा, तथैवागमेष्वपि। मननविशेषेण मन्त्राः तथैव तन्त्रशास्त्रेऽपि।

एतावताऽनयोश्शास्त्रयोश्शब्दतस्साम्यं किञ्चिदिवावगतम्। अर्थतः कियद्वर्तते इति विमृशामः। सर्वसम्प्रतिपन्नमिदं यत् कस्यापीप्सितस्य परिप्राप्तिः कस्याश्चन विहित क्रियाया अवलम्बनेनैव सिध्यतीति। जोषंभावमास्थितः किमप्यकुर्वन् ईप्सितं लब्धुं न क्षमः। तदर्थं कस्यापि विहितस्य कर्मणोऽनुष्ठानं तावदावश्यकम्। तदिदमनुष्ठानं शास्त्रद्वयेऽपि समानम्। तत्र यागहोमदानादीनामनुष्ठानमेकत्र, अपरत्र च न्यास–मुद्रा-षोडशोपचार – राजोपचारार्चनातर्पणादीनामनुष्ठानमिति भेदः। 'अग्नेरहं देवयज्यया पशुमान् पुष्टिमान् भूयासम्' इत्यनुमन्त्रणमन्त्राम्नान पूर्वकमग्नेः स्वस्य चैक्यध्यानमेकत्र। अपरत्र च—

भूषानिक्षिप्तहेमद्युतिसमकिरणां मुग्धचन्द्रावतंसां,
बिभ्राणां दक्षिणेनारुणलिकुचफलं पाणि पङ्केरुहेण।
हस्तेनादक्षिणेन प्रणतजनकुलेष्वर्थजातं किरन्तीं,
वन्दे तामेकवर्णां बलरिपुविनतां मङ्गलां सर्वपूर्वाम्॥

इति स्तुवन्तामर्चकानां ध्यानम्। ध्याने देवताया विग्रहादि विरहिताया एकत्र, अपरत्रच दिव्यमङ्गलविग्रहयुताया इति भेदः। विग्रहादिराहित्यं दर्शपूर्णमासादिक्रतुष्वेव नान्यत्र। फलसाधनतया क्रतोरेवोपदिष्टत्वात् अग्न्यादिदेवतायाश्च क्रत्वङ्गत्वेन विधानादित्यभिमानः। तन्त्रेषु तु तत्तत्फलसाधनत्वेन विभिन्नप्रयोगाणां विधानेऽपि देवतायाः प्राधान्यमिष्यते।

अत्रैवं विवेचनं युक्तं विभावयामि–दृष्टार्थावबोधाय स्वाध्यायाध्ययनं क्रियत इति तावन्मीमांसकानां सिद्धान्तः। एवं सिद्धान्त-

षितुर्मीमांसकस्यायमाशयः— यत्क्रत्वनुष्ठानावसरे समुच्चार्यमाणैर्मन्त्रैः कर्मसमवेताः पदार्थास्स्मारितास्सन्तः प्रयोक्तुः कर्मसु विततानां पदार्थानां निश्चितः कश्चन क्रमोऽपि ज्ञातो भवतीति। तदिदं प्रयोजनं केषाञ्चिदेव करणादिमन्त्राणाम्। किन्तु यानि स्तोत्र शस्त्राणि तेषु मन्त्रार्थस्मरणं दुश्शकम्, स्तोत्रशास्त्रपठनाय ये नियमा विहिताः तेष्वेव ऋत्विजां मनः प्रसरेत् नार्थस्मरणे। अत एषामदृष्टार्थत्वेनैव पठनमेष्टव्यम्। एवञ्च मन्त्रोच्चरणं क्वचिदेवार्थस्मारकम् क्वचिच्चादृष्टार्थमिति सिध्यति। वैदिक कर्मस्वियं स्थितिः, तथैव तान्त्रिककर्मस्वपि। तान्त्रिककर्मसु वैदिकाः तान्त्रिकाश्च मन्त्रा भवन्ति। द्विविधानामपि मन्त्राणामर्थज्ञानं पूर्ववदावश्यकमेव। तत्र मन्त्रोनामानुष्ठेयार्थ प्रकाशकं मननसाधनम्। मननञ्चानुभूतार्थ विषयानुसन्धानम्। अनुष्ठेयार्थः तत्प्रकाशकश्चेत्युभयं तस्य पुरुषस्य निष्प्रयोजनं भवेत्, यश्चानवगतमन्त्रार्थः। अतो हेतोः सकल विद्यानिधेर्हयग्रीवरूपिणो भगवतो महाविष्णोः लब्ध विद्यावैशद्येनापरिच्छिन्नचिच्छक्तिकलासमावेशतरङ्गितहृदयेनागस्त्यमुनिना तन्त्रशास्त्रसिद्धमन्त्राणामर्थो विवृतः। एवञ्च मन्त्राणामर्थज्ञानं प्रयोगावसरे पूर्वतन्त्र-तन्त्रशास्त्रयोरावश्यकमित्युभयत्र समानम्।

> सर्वे वर्णात्मका मन्त्राः देवशक्त्यात्मकः प्रिये।
> शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया मातृका तु शिवात्मिका॥
> तथा व्याप्तमिदं सर्वमाब्रह्म भुवनान्तरम्॥

इत्यादि श्रीतन्त्रवचनैर्वर्णात्मकत्वं मन्त्राणां तच्छक्त्यात्मकत्वं देवताया अवगच्छामः। पूर्वतन्त्रेऽप्येषैव रीतिः। 'सामर्थ्यंसर्वभावानां शक्तिरित्यभिधीयते' इति कथयन्तो भट्टपादाः सर्वपदार्थेषु विलक्षणां काञ्चन शक्तिमभ्युपयन्ति। तामेव शक्ति पृथक्पदार्थं साधयन्ति च। शक्ति विना परमेश्वरोऽप्यकिञ्चित्करः। अनया रीत्या वेदेषु प्रत्यक्षरं काचनशक्तिरस्तीति याज्ञिकमीमांसकाः स्वीकुर्वते। तथैव तान्त्रिका अपि।

तन्त्रशास्त्रे 'अकथासनम्' इति काचन परिभाषा। गुरोरासनमिति तदर्थः। अकारादिषोडशाक्षराणां गणना। तानि त्रिकोणचक्रे विन्यस्य 'ह ल क्ष' इति त्रयो वर्णाश्च कोणेषु त्रिषु विन्यस्य मृगीमुद्रया तान्त्रिका मस्तके गुरून् ध्यायन्ति। तान्त्रिकस्साधको यागशालां प्रविश्य सुखासनं उपविश्य पूजासंकल्पं विधाय प्रथमम् अकथासने गुरुं भावयतीति क्रमः। तमेवक्रमं वैदिका अपि गुरोस्सकाशादध्ययनारम्भे 'श्री गुरुभ्यो नमः हरिः ॐ' इत्युच्चार्याध्ययनमध्यापनञ्चारभमाणा अवलम्बन्ते। स्वस्वगुरुस्मरणं तस्य तस्य कर्मण आरम्भावसरे चिरन्तनादेव कालात्सम्प्रवृत्तम्। मन्त्रसिद्धिर्वा मन्त्रार्थदेवतायास्सिद्धिर्वा गुर्वधीना। शक्तिसम्पन्नेभ्यो गुरुभ्यो गृहीत एव मन्त्रः फलति। अतएवोभयत्र गुरुपरम्परानुसरणं समानम्। तत्र मन्त्रशक्तिसम्पादनं मन्त्रार्थदेवताशक्तिसम्पादनं साधकाधीनम्। गुरुः केवलमुपदिशति मन्त्रान्, मन्त्रार्थांश्चावगमयति। शिष्यस्तानवाप्य तदर्थांश्चावगत्य गुरूपदिष्टमार्गेण विहितानि कर्माण्यनुतिष्ठेत्। उभयत्रानुष्ठान विषयभूतेषु कर्मसु विभिन्नेष्वपि कर्मानुष्ठाने तौल्यमस्त्येव। चित्तवृत्तेर्दृढीकरणायैव कर्माण्यनुष्ठीयन्ते। विना तेन सूक्ष्मवस्तुग्रहणं चित्तस्य कथमिव स्यात्, अत एव तान्त्रिकाः स्वशरीरे-श्रीचक्रं भागशस्तत्तत्स्थाने भावनया विन्यस्य तत्रतत्र विद्यमाना देवताः स्वाङ्गेषु विभज्य-

शरीरं चिन्तयेदादौ निजं श्रीचक्ररूपकम्।
त्वगाद्याकारनिर्मुक्तं ज्वलत्कालाग्निसन्निभम्॥

इत्येवं ध्यात्वा तथैव क्रमेण नवसु स्थानेषु चक्राणि तत्तदधिष्ठात्रीः त्रिपुरात्रिपुरेश्वरादि देवता विन्यस्य भावयन्ति।

इयमेव रीतिर्वैदिक यागेष्वपि दृश्यते-'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीरमिध्मम्, उरोवेदि, लोमानि बर्हिः, हृदयं यूपः, काम आज्यम्, मन्युः पशुः, दमः शमयिता, वाक् होता, प्राण उद्गाता, चक्षुरध्वर्युः, मनो ब्रह्मा, श्रोत्रमग्नीत्' इत्यादिसन्दर्भेण

यज्ञीयपदार्थानां भावना यज्ञकर्त्रा क्रियते । एतेनागमस्य निगमस्य च साम्यं प्रतिपादितं भवति ।

किञ्च भावनामयमिदं जगत् । यथा यथा भाव्यते तथा तथेदं विपरिवर्तते । तत्र दैवीसम्पद आनुकूल्यमपेक्षते उभयत्र । अस्मिन् विषये कञ्चन मन्त्रभागमवलम्ब्य विलोकयाम:– 'एह श्रीश्च ह्रीश्च, धृतिश्च तपो मेधा प्रतिष्ठा श्रद्धा सत्यं धर्मश्चैतानि मोत्तिष्ठन्तमनूत्तिष्ठन्तु मा. . . . श्रीश्च ह्रीश्च धृतिश्च तपो मेधा प्रतिष्ठा श्रद्धा सत्यं धर्मश्चैतानि मा मा हासिषु:" इतिश्रूयते । याज्ञिकैरयं मन्त्रस्सोमयागे प्रवर्ग्योपसत्प्रकरणे विनियुक्त पठ्यते । अयमेव मन्त्रश्चर्याकाण्डे तान्त्रिकैरपि विनियुक्त: । मन्त्रस्यायमर्थ:– श्रीप्रभृतयो धर्मान्ता नवदेवशरीराणि कर्मसमाप्तावुत्तिष्ठन्तं मा मां यज्ञमानमनु आसमन्तादुत्तिष्ठन्तु । एवं श्रीप्रभृतीनि धर्मान्तानि नवदेवशरीराणि मा मां मा हासिषु। मा परित्यजन्तु इति । अत्रनवदेवशरीरेण नवचक्रस्थानानि अभिमतानि । अत्रास्ति किञ्चिदन्यद्रहस्यम्– कर्मसमाप्यनन्तरं मयैव साकं भवन्त उत्तिष्ठन्तु मां च न परित्यजन्तु इति प्रार्थनेयेदं प्रतीयते—

> नवद्वारपुरेऽस्मिन् आयुस्स्रवति सन्ततम् ।
> तिष्ठतीत्यद्भुतं तत्र गच्छतीति किमद्भुतम् ॥

इत्यस्ति किञ्चित् पद्यम् । पुरि शेत इति पुरुष: । पूरिदं शरीरम् । तत्र सन्ति नवद्वाराणि । आयुश्च सततं सञ्चरणशीलम् । केन द्वारेण तन्निर्गच्छेदिति मानवो निश्चेतुं न शक्नोति । आयुषि विद्यमाने एव पुरुषो दैवीसम्पदमवाप्तुं शक्नुयात् । भोगायतने शरीरेऽविद्यमाने पुरुष: कथमवाप्नुयात्तां सम्पदम् इति हेतो: कर्मकाण्डिनस्तानि देवशरीराणि प्रार्थयन्ते तन्त्रिका अपि ।

किञ्चैवं प्रवृत्तानामुभयेषां किञ्चिच्चमत्कारा वाचकस्य सामर्थ्यस्य प्राप्तौ सत्यां लोभमूलिका प्रवृत्तिरजायत । तस्यायं परिणामो लोकैरन्वभूयत–यज्जिह्वाचापल्यं, कामलोलुपत्वं, द्वितीयपुरुषार्थार्जनैक-

तानमतित्वमित्येवंजातीयकानि दूषणान्येषां प्रवृद्धानीति। तेन अश्रद्दधाना लोका विमुखा अजायन्त। इदमपि समानं तान्त्रिकाणां याज्ञिकमीमांसकानां च। यस्मै फलाय यादृशः पन्था आविष्कृतश्चिरन्तनैः, तस्मात्पथो यदि विच्युतिः तर्हि तत्फलं कथमवाप्यताम्। विषयाणामानुकूल्यसंपादनाय विषयी अनुकूलयितव्यः। विषयी चेद्वशीभूतः विशेषणीभूतानां विषयाणां वशीभावे को नाम सन्दिहीत। सांसारिकरोगचिकित्सायै तान्त्रिकं वैदिकञ्चेत्युभयं तुल्यबलम्। उभे अपि वेदोपदिष्टौषधीर्विचित्य स्वस्वानुरूपेणौषधं निर्माय रोगिभ्यो ददतः। संसारबन्धनादेवमुक्तिमवाप्तुं साधनसम्पद्युक्तमुभयमपि।

'अष्टाचक्रा नवद्वारा। देवानां पूरयोध्या। तस्या हिरण्मयः कोशः। स्वर्गो लोको ज्योतिषावृतः।' इत्यस्ति मन्त्रः। मन्त्रोऽयं याज्ञिकैः चयनयागे इष्टकोपधानाय विनियुक्तः। तान्त्रिकैश्चायं मन्त्रः श्रीचक्रस्वरूपनिरूपणपरतया गृहीतः। मन्त्रस्याऽयमर्थः-

इन्द्रादीनां देवानां पूः अष्टाचक्रा त्वगसृङ्मांसादिधात्वष्टकयुक्ता। शिरोवर्तिभिस्सप्तभिर्द्वारैः नेत्रश्रोत्रादिभिः अधोवर्तिभ्यां द्वाभ्यां द्वाराभ्यामुपेता नवद्वारा अयोध्या केनापि योद्धुमशक्या तस्यां पुरि हिरण्मयः कोशः अवकाशरूपः स्वर्गो लोकः सुखमयः स्थानविशेषः ज्योतिषा चैतन्येनावृतः परिवेष्टितो वर्तत इति। यः पुमानेवं ज्ञात्वेष्टकामुपदध्यात् तस्मै पुंसे सर्वे देवा आयुरादिकानि फलानि ददतीत्युत्तरमन्त्रेण संबन्धः।

तान्त्रिकैस्तु-अष्टाचक्रानवद्वारादिप्रतिपादितानि अष्टौ चक्राणि यस्याः सेति, एवं नवद्वाराणि त्रिकोणात्मकानि यस्याः सेति देवी कथ्यते। अभेदोपचारात्। देवसंबन्धिनी पूः श्रीविद्यानगरम् अयोध्या असाध्या मन्दभाग्यानाम्, तस्यां पुरि हिरण्मयः कोशः सहस्रदलकमलकोशः बैन्दवस्थाने विद्यमानः तत्र स्वर्गो लोकः निरतिशयानन्दः ज्योतिषावृतोऽस्तीति। एवं भावयते साधकाय बैन्दवस्थाने विद्यमानाभ्यां कामेश्वरीकामेश्वराभ्यां आयुरादिकानि फलानि वितीर्यन्त इत्यर्थः।

अत्र कोशशब्दोऽनुसन्धानार्हः। ये वाजपेयादीन् क्रतूननुष्ठाय श्रोत्रिया भवन्ति तान् साधकाः पृच्छन्ति–किं कोशो लब्धः इति। प्रष्टृणामयं भावः– किं पञ्चदशाक्षरी लब्धा ? किं पञ्चदशाक्षरी उपासना क्रियत इति तात्पर्यम्। कथं कोशशब्दस्य पञ्चदशाक्षरी विद्यार्थं इति चेदत्र संख्याशास्त्रेणोत्तरं ज्ञेयं भवति। क ट प यादि-संख्याशास्त्रं चिरन्तनैरभ्यस्य तेनैव व्यवहारस्तैः क्रियते स्म। 'क' इत्यस्य १ संख्या, 'श' इत्यस्य ५ संख्या। मिलित्वा १५ संख्या सम्पद्यते। संख्येयं पञ्चदशाक्षर्याः परिचायिका। प्रायो दक्षिण-भारते ये श्रौतयागानुष्ठातारस्ते श्रीचक्रसमुपासका भवन्ति। नवा-वरणपूजनं तेषामनिवार्यं भवति। वैदिकतान्त्रिकयोरत्र समावेशः प्राय उपलभ्यते। तान्त्रिकाग्रगण्याः श्रीभास्करराया: स्वीयेषु ग्रन्थेषु श्रौतपदार्थान् मीमांसानयसिद्धन्यायांश्चोपपाद्य विषयपोषकतया सन्निवेशयन्ति।

एतावता संन्दर्भेणेदं निर्गलितं भवति–यत्तन्त्रशास्त्रं पूर्वतन्त्रं च साम्यमनुभवतः। तेन च निगमागमयोर्नैकट्यं साम्यं च सिध्यतीति॥

–:०:–

बौद्धानां तन्त्रोपासना

लेखक : डॉ. श्रीधर-भास्कर-वर्णेकरः

(नागपुरम्)



संस्कृतवाङ्मये तन्त्रशब्दः बहुविधैः अर्थैः उपयोजितः दृश्यते । श्रीमतः आपटेमहाभागस्य संस्कृताङ्ग्लकोशे अस्य शब्दस्य ३१ मिताः परस्परासंबद्धाः अर्थाः निर्दिष्टाः सन्ति । झळकीकर-विरचिते न्यायकोशे १५ मिताः अर्थाः सोदाहरणं निर्दिश्यन्ते । यथा "आसुरिरपि पञ्चशिखाय च तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्" इत्यत्र साङ्ख्यकारिकायां तन्त्रशब्दः शास्त्रविशेषवाचकः । गदाधरीव्युत्पत्तिवादस्य दिनकरी-टीकायां "यथा नीलो घटः इत्यादौ अभेदान्वयबोधं प्रति समान-विभक्तिकत्वं तन्त्रम्" तथाच "यथा वा चैत्रेण पच्यते तण्डुलः इत्यादौ चैत्रपदोत्तरतृतीयायां चैत्रगतसंख्यानभिधानं तन्त्रम्" – इत्यादि-नैयायिकवाक्येषु प्रयोजकवाचकत्वं प्रतीयते तन्त्रशब्दस्य ।

"सकृदुच्चारितस्य एकस्य शब्दस्य शक्त्या अनेकार्थप्रतिपादकत्वं तन्त्रम्" इति शाब्दिकाः वदन्ति ।

"विवक्षितार्थज्ञापकं तन्त्रम्" इति वेदान्तिनः ।

"तन्त्रं साधनमुद्दिष्टं तन्त्रं ज्ञापकमेव च" इति मध्वभाष्यटीका-टिप्पणे तन्त्रशब्दस्य अर्थः उपलभ्यते ।

कात्यायनश्रौतसूत्रे "कर्मणां युगपद्भावः तन्त्रम्" इति तन्त्रशब्दार्थः ।

"यद् हि सकृत् कृतं बहूनाम् उपकरोति तत् तन्त्रम्" इति उच्यते। यथा बहूनां मध्ये कृत: प्रदीप: । इति कर्काचार्य: ।

"तन्यते विस्तार्यते बहूनाम् उपकार: येन सकृत् प्रवर्तितेन तदिदं तन्त्रम् । इति माधवाचार्यकृतजैमिनीयन्यायमालायाम् । तत्रैव अन्यत्र स्थलेषु-

"उभयोद्देशेन सकृदनुष्ठानं तन्त्रम ।"
'यत् सकृत् कृतं बहून् उपकरोति तत् तन्त्रम् ।"

इति तन्त्रशब्दार्थो विशदीकृत: ।

यदिदं जगद्विख्यातं "पञ्चतन्त्रं" तत्र तन्त्रशब्द: राजनीत्यवयवार्थेन उपयुज्यमान: लक्ष्यते ।

भारतीयानां धार्मिकजीवने श्रुतिस्मृतिपुराणानाम् इव येषां तन्त्राणां प्रभाव: सर्वत्र दृश्यते तानि तन्त्राणि आध्यात्मिक-आधिदैविक-सिद्धिप्रदानि गण्यन्ते। कुल्लूकभट्टमतानुसारं "द्विविधा हि ईश्वरप्रणीता: धर्मग्रन्था: वैदिका: तान्त्रिकाश्च" इति। तत्रापि ये तन्त्रमार्गैकनिष्ठा: सन्ति ते स्वीयान् तन्त्रग्रन्थान् पञ्चमं वेदम् एव मन्यन्ते। वङ्गीया: शाक्ता: वेदेभ्योऽपि तन्त्रग्रन्थान् बहु मन्यन्ते।

तान्त्रिकवाङ्मये अन्तर्भवन्त: महान्त: ग्रन्था: शारदालिप्यां लिखिता: आसन्। तेषु वामकेश्वरतन्त्राभिधे ग्रन्थे चतु:षष्टिमितानां तन्त्राणां नामानि विद्यन्ते ।

शाबरतन्त्रनाम्नि ग्रन्थे संस्कृत-हिन्दी-गुजराती-मराठी-इति चतुर्भाषोपनिबद्धा: दैवतसिद्धिमन्त्रा: सन्ति। एते एव शाबरमन्त्रा: इति निगद्यन्ते। तत्रैव ग्रन्थे आदिनाथादीनां द्वादश कापालिकानां तथा च नागार्जुन-जडभृत-हरिश्चन्द्र-प्रभृतीनां विविधतन्त्रमार्ग-प्रवर्तकानां च नामानि समुल्लिखितानि सन्ति ।

तन्त्रवाङ्मयस्य गूढार्थतया तथा च तान्त्रिकाणां मद्य–मांस–मत्स्य–मुद्रा मैथुन-इति पञ्चमकार–प्रसक्ततया तदानुषङ्गिकया च अनैतिकतया तन्त्रमार्गः प्रायेण लोके अनादृतः आसीत् अस्ति च । भक्तिमार्गीयेषु काव्येषु याज्ञिकानामिव तान्त्रिकाणामपि सोपहासा निन्दा श्रूयते । तमिम दोषम् अपसारयितुं महार्णवतन्त्रे पञ्चमकारविषयिणी स्पृहणीया सुधारणा कृताऽस्ति । यथा, अनियन्त्रितमद्यपः देवीभक्तो न गणितव्यः । कलियुगे मैथुनार्थे स्वभार्या एव प्रशस्ता । मद्यस्थाने दुग्धशर्करा–मधुमिश्रणम् उपयोक्तव्यम् । पञ्चतत्त्वानाम् अनुष्ठानं वीरः एव कर्तुम् अर्हति नेतरः । विशिष्टाधिकारसंपन्नः साधकः एव वीरशब्देन व्यपदिश्यते तन्त्रशास्त्रे ।

तन्त्रसाधकाः जातिभेदं सर्वथा न गणयन्ति । चतुराश्रमेषु गार्हस्थ्यसंन्यासयोः एव तत्र प्राधान्यम् । पूर्वग्रहदूषितचित्ततया तन्त्रमार्गः, तद्विषयकं च प्रभूतं वाङ्मयं दुर्लक्षितं खलु आसीत् विद्वत्समाजे । पाश्चात्यपण्डितेषु एच्. एच्. विल्सन, मोनियर विल्यम्स, एन्. मॅक्निकल, डब्ल्यू. जे. विल्किन्स, आॅर्थर अॅव्हलाॅन, आर. डब्ल्यू. फ्रेजर इत्यादिभिः हिन्दुधर्माध्ययननिष्ठैः कैश्चिद् महानुभावैः प्रभूतं तन्त्रवाङ्मयम् आलोड्य, तद्विषयकं लोकभ्रमम् अपसारयितुं श्लाघनीयः प्रयत्नः कृतः । सुगृहीतनामधेयैः पद्मविभूषण श्री गोपीनाथकविराजमहाभागैः तान्त्रिकसाहित्यविषयिणीं सप्तशत-पृष्ठात्मिकां विवरणात्मिकां बृहतीं ग्रन्थसूचिं स्वोपज्ञया पाण्डित्यप्रचुरया प्रस्तावनया साकं प्रकाश्य नितान्तं खलु उपकृताः तन्त्रशास्त्रजिज्ञासवः । डाॅ. श्रीधर व्यंकटेश केतकर महाभागानां महाराष्ट्रीयज्ञानकोशस्य चतुर्दशतमे खण्डे, तथा च पं. महादेवशास्त्रि-जोशि-महाभागानां भारतीयसंस्कृतिकोशे प्रायः सर्वेषु खण्डेषु तन्त्रविषयकः प्रभूतो वृत्तान्तः उपलभ्यते । आधुनिकैः विद्वद्भिः १९२ मितानि तन्त्राणि परिगण्यन्ते ।

शिव-विष्णु-देवी--भक्तेषु ब्राह्मणधर्मानुयायिषु यथा तान्त्रिकी समाराधना सर्वत्र रूढिं गता, तथैव बौद्धानां महायानसंप्रदाये,

तिब्बतीये च बौद्धधर्मे तन्त्रमार्गस्य दृढ: प्रभाव: दृश्यते । पञ्चशीलप्रवणे अष्टाङ्गिकमार्गैकनिष्ठे बौद्धसंप्रदाये गच्छता कालेन शैवादीनां प्रभाववशात् तन्त्रमार्गोऽपि किमपि माहात्म्यं भेजे ।

तान्त्रिके बौद्धवाङमये क्रियातन्त्रं चर्यातन्त्रं योगतन्त्रं च इति एवं त्रिविधा: तन्त्रग्रन्था: सन्ति । क्रियातन्त्रे धर्मविधि:, चर्यातन्त्रे आचार-विधि: तथा च योगतन्त्रे योगविधि: प्रतिपादित: । क्रियातन्त्रपरै: ग्रन्थै: केषांचित् वैदिकधर्मविधीनामेव प्राधान्येन पुरस्कार: कृतोऽस्ति । आदिकर्मप्रदीपाख्ये क्रियातान्त्रिके सूत्रग्रन्थे प्रायेण वैदिकानां गृह्यसूत्रेषु प्रतिपादिता: धर्मविधय: विद्यन्ते । महायानसाम्प्रदायिकानां मुमुक्षूणां कृते परिमार्जन-प्रक्षालन-प्रात:सायंप्रार्थना-पितृतर्पण-भिक्षादान- पूज्य-पूजनादिकर्मसु प्रयोक्तव्या: मन्त्रा: अस्मिन् आदिकर्मप्रदीपाख्ये ग्रन्थे सन्ति ।

क्रियातन्त्रग्रन्थेषु यज्ञान्तर्गतानि दानानि हूम-हूम-हूम फट फट फट स्वाहा इत्यादृशा: गूढार्थका: प्रार्थना: बुद्ध-बोधिसत्त्वान् इव शैवपन्थीयदैवतान् अपि उद्दिश्य संगृहीता: सन्ति । प्रतिपक्षम् अष्टमीव्रतविधानस्य नियमा: अत्र ग्रन्थेषु विद्यन्ते ।

प्रभूता: खलु योगतन्त्रविषयका: बौद्धग्रन्था: सन्ति । एते हि ग्रन्था: माध्यमिक-योगाचार--संप्रदायानुयायिनां गूढार्थवादप्रतिपादनात् समुद्भूता: इति मन्यते । बौद्धयोगिन: यत् परमं ज्ञानम् अधिगन्तुं वाञ्छन्ति तदर्थं संन्यास-ध्यानादिवत् मन्त्रतन्त्रमूर्च्छनाद्यान् ऐन्द्रजालि-कान् प्रयोगान् अपि ते कुर्वन्ति । मांसं मद्यं मैथुनं च एतदर्थं सहायकं भवतु इति एतेषां ग्रन्थानां स्फुटोऽभिप्राय: । अत्रत्यं प्रतिपादनं शैवतन्त्रानुरूपमेव प्रायेण । केवलं बुद्धप्रणीतानि एतानि तन्त्राणि इति हेतो: बौद्धसाम्प्रदायिकेषु तानि बहु मन्यन्ते । योगिनी डाकिनी इत्याद्या: देवता: अपि अस्मिन् बौद्धतन्त्रे प्राधान्यं बिभ्रति ।

तथागतगुह्यकम् अथवा गुह्यकसमाजः इत्याख्यः तन्त्रग्रन्थः नेपालीयबौद्धानां नवविधधर्मेषु समाद्रियते। एतस्मिन् ग्रन्थारम्भे नानाविधानि ध्यानानि प्रतिपादितानि। परम् अग्रतः गूढकर्माणि गजाश्वसारमेयादिपशूनां मांसभक्षणं चण्डालकन्याभिः सह नियत-मैथुनं च समुपदिष्टम्।

महाकालतन्त्रं हि शाक्यमुनिदेवतासंवादरूपं वर्तते। बुद्धप्रणीतम् इदं तन्त्रम् इति तत्रैव निवेदितम्। अस्मिन् ग्रन्थे गुप्तधन-वाञ्छित-स्त्री--राज्यपदादि-प्राप्तिकराणि लोकोन्मादजनकानि वशीकरण-मारण-विषयकाणि तन्त्रसाधनानि निवेदितानि सन्ति।

संवरोदयतन्त्रं बुद्धवज्रपाणिसंवादात्मकम् अस्ति। अस्मिन् खलु शिवलिङ्गस्य शैवदैवतानां च पूजनं तन्त्रसाधनार्थं समादिश्यते।

कालचक्रतन्त्रम् आदिबुद्धेन समादिष्टम् इति कथ्यते। परं तत्र मक्काक्षेत्रस्य मुस्लिमसंप्रदायस्य च निर्देशः समुपलभ्यते।

नागार्जुनप्रणीतं पञ्चक्रमाख्यं यत् बौद्धतन्त्रपुस्तकम् उपलब्धं तत्र परमोच्चयोगप्राप्तिरूपिणीं पञ्चमावस्थां प्राप्तुं महायानीय-दैवत-पूजनं गूढमन्त्रोच्चारणं चक्रमण्डलादिपूजनं समादिष्टम्। अनया तन्त्रोपासनया योगी सकलभेदविरहिताम् अद्वैतावस्थां प्रतिपद्यते इति ग्रन्थेऽस्मिन् प्रतिपादितम्।

नागनाथविरचिते भारतीयबौद्धेतिहासविषयिणि ग्रन्थे बौद्धतन्त्र-विषये बहु बहु निवेदितम् अस्ति। बौद्धानां तन्त्रग्रन्थगता संस्कृत-भाषा असंस्कृतप्रायत्वात् उद्वेजयति खलु संस्कृतभाषाभिज्ञान्।

यद्यपि पञ्चशीलाष्टाङ्गमार्गप्रधानः बौद्धधर्मः श्रुति-स्मृति-पुराण-तन्त्रोक्तं वैदिकं धर्ममार्गं विरोद्धुमिव प्रादुरभूत्, यज्ञ-याग-मन्त्र-तन्त्र साधनादि-विरोधकत्वम् एव यद्यपि तस्य धर्ममतस्य अपूर्वत्वं गण्यते, तथापि शैवसाम्प्रदायिकानां तन्त्रसाधनायाः प्रभावः तस्मिन् संप्रदाये

यथाकालं संजातः। किं बहुना शैवसंप्रदायसदृक्षत्वं तस्मिन् समुद्भूतम्। अथ च वैष्णवैः भगवान् तथागतः विष्णोः नवमावतारत्वेन बहुमतः। तेन च सः अवैदिकः संप्रदायः यथाकालं वैष्णव इव संजातः। बौद्धानां तन्त्रमार्गप्रवणत्वं हि तेषाम् आध्यात्मिकनिष्ठातः पतनस्य प्रमाणम् इति चैके मन्यन्ते तत् सर्वथा चिन्तनास्पदं मन्यामहे।

संदर्भाः न्यायकोशः (पं. भीमाचार्य झळकीकर), महाराष्ट्रीयज्ञानकोशः खण्डः १४ (डॉ. श्री. व्यं. केतकर), भारतीय-संस्कृति-कोशः ३-४ खण्डौ (पं. महादेवशास्त्री जोशी), तान्त्रिक-साहित्यम् (पं. गोपीनाथ कविराज।)

निगम और आगम पर एक दृष्टि

पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

दिगन्तरलुठत्सान्द्रसिन्दूररुचिरच्छविः ।
भालचन्द्रोऽस्तु भवतां विद्याम्भोधिविवृद्धये ॥
निगमागमसंदोहपराहंतास्वरूपिणी ।
साम्बानन्दमयी सद्यः संविदुद्योततां सताम् ॥

आज 'निगम' और 'आगम' पर कुछ विचारविमर्श के लिये इस गोष्ठी का आयोजन किया गया है। इसमें अनेक मूर्धन्य विद्वान् अपने विचारोंसे अभीतक अप्रकाशित एवं संदिग्ध प्रश्नों के द्वार खोलेंगे तथा नये प्रकाश से श्रोतागण को लाभान्वित करेंगे ऐसी आशा है।

संयोजक महानुभावों की आज्ञा शिरोधार्य कर मैं भी अपनी अत्यल्प प्रज्ञा के अनुसार कुछ विचारकणों को उपस्थित करने जा रहा हूँ, इसमें कहां तक सफलता मिलेगी कहना कठिन है, तो भी कर्तव्यानुसार भगवती भारती के प्राङ्गण में अपनी सेवा निवेदन कर रहा हूँ।

गच्छतः स्खलनं क्वाऽपि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति तद्विदः ॥

इस न्याय के अनुसार आप मेरी बातों को ग्रहण करने की कृपा करें।

'निगम' और 'आगम' इन दो शब्दों का व्यवहार चिरन्तन कालसे विद्वत्समाजमें चला आ रहा है ।

निगम शब्द वेदके लिये और 'आगम' शब्द सामान्यतः सभी शास्त्रों के लिये तथा तंत्रों के लिये प्रायः प्रयुक्त होता आया है ।

इन दोनों के व्यवहार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । शास्त्रकार विभिन्न प्रसङ्गों और विषयों में इन का प्रयोग करते आये हैं ।

वेद या वेद के किसी अंश को 'निगम' शब्द से संबोधित किया गया है । निरुक्तकार यास्कने वारंवार 'तथाऽपि च निगमो भवति' यह कहकर वैदिक शब्दों और मंत्रों की व्याख्या की है । न्याय शास्त्र के अनुमानपद्धति में पञ्चावयव वाक्य रचना का अन्तिम वाक्य 'निगमन' कहा जाता है जिससे अनुमान की पुष्टि होती है । इन व्यवहारों से स्पष्ट है कि 'निगम' अर्थात् सिद्धान्तभूत शब्द है । आप्तवाक्यरूप वेद ही परम प्रमाण है । प्रसिद्धि ही है 'वेदाः प्रमाणम्' ।

इसी प्रकार 'आगम' शब्द भी अपनी व्यापक अर्थ सीमाओं के कारण प्राचीन कालसे प्रसिद्ध है । महाकवि कालिदास तथा भारवि ने 'आगम' शब्द का प्रयोग विद्या, कला, शास्त्र, नीति आदि अनेक विषयों के लिये किया है--

दिलीप के लिये निम्नाङ्कित पद्य है-

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भः आरम्भसदृशोदयः ॥

भारवि ने भी आगम को परम्परागत शास्त्र के अर्थ में कहा है-

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम् ।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ॥

संदेहरूपी अन्धकार को मिटाने के लिये अच्छी तरह परिश्रमपूर्वक पढ़ा हुआ तथा शुद्धगुरुपरम्परा से प्राप्त शास्त्र ही प्रदीप की तरह समर्थ होता है। यहां पर 'सुकृतः' और 'परिशुद्धः' ये दो विशेषण महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी व्याख्या आगम या तंत्र के विषय में भी ठीक लगती है।

इसी प्रकार नाना प्रकार के संप्रदाय या उपासनापद्धतियों के लिये भी महाकवि कालिदास ने 'आगम' शब्द का व्यवहार किया है--

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जान्हवीया इवाऽर्णवे॥

यह तो सामान्य शब्दविषयक चर्चा हुई। 'निगम' और 'आगम' दोनों की व्यावहारिक तुलनामें 'आगम' शब्द का क्षेत्र अधिक व्यापक देखा जाता है।

'निगम' और 'आगम' दोनोंभारतीय विद्याओं की गंगोत्री के तुल्य हैं, इन दोनों के परस्पर संबन्धों पर विचार करना आवश्यक है। वर्णाश्रमप्रधान समाजरचना के स्थिरीकरण में वेदों या निगमों का प्राधान्य सर्वमान्य है। निम्नाङ्कित मनु की प्रतिज्ञा आज भी यथा-स्थान प्रतिष्ठित है–

चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥

इसी प्रकार नानाविध उपासना पद्धतियों, शास्त्रों और परम्पराओं के लिये 'आगम' की उपादेयता भी सर्वमान्य है। एक प्राचीन श्लोक प्रसिद्ध है जो यह स्पष्ट करता है कि 'बीजाङ्कुरन्याय' से वेद और आगम एक दूसरे से मिले हुए हैं। श्लोक इस प्रकार का है।

यन्मूलं वेदवृक्षस्य संपूर्णानन्तशाखिनः।
फलं तस्यैव यं प्राहुस्तं वन्दे भैरवागमम्॥

जो वेदवृक्ष का मूल है, जिस वृक्ष की अनन्त शाखाएं फैली हुई हैं, तथा उस वृक्ष का फल भी जो बन जाता है, उस शिवागम को मैं प्रणाम करता हूं।

त्रिपुरारहस्य में प्रसङ्गविशेष में 'आगम' को व्यापक कहा है तथा वेद को उस आगम का ही भाग कहा गया है--

'वेदो ह्यागमभागः स्यात् शब्दराशिस्तथाऽऽगमः'

इसका तात्पर्य यही है कि यह अनन्त अखण्ड शब्दराशि जो मातृका रूप से सर्वत्र व्याप्त है, वही तो आगम है। उसके अन्दर तो सभी शास्त्र आ जाते हैं।

वेद और आगम में परस्पर भेद या विरोध की कल्पना नितान्त भ्रमपूर्ण होगी। इन दोनों की व्यावहारिक स्थितियों पर विचार करने पर सारी भ्रान्तियां मिट जाती हैं।

लोकमर्यादा की रक्षा एवं वर्णाश्रम धर्म के निर्वाह के लिये वेद तथा वेदानुगामी स्मृतियों का अक्षरशः पालन करना द्विजाति मात्र का या द्विजाति से भिन्न का भी परमकर्तव्य है। ललितासहस्रनाम में भगवती का एक नाम आता है 'निजाज्ञारूपनिगमा' इस नाम की व्याख्या में स्वनामधन्य श्री भास्कररायजी महाराज ने मीमांसा शास्त्र के अनुसार निरूपण करते हुए स्पष्ट किया है कि वेद स्वयं भगवती के आज्ञा स्वरूप हैं जिनको शाब्दी भावना या साध्य, साधन, और इतिकर्तव्यतारूप आर्थी भावना और अर्थवादादि विचारों से विद्वज्जन व्याख्या करते हैं। कूर्मपुराण में स्वयं भगवती का कथन है--

ममैवाज्ञा परा शक्तिर्वेदसंज्ञा पुरातनी।
ऋग्यजुःसामरूपेण सर्गादौ संप्रवर्तते ॥

इस नाम की और भी व्याख्या की गई है जिसमें कामिकादि अट्ठाईस तंत्रों को परमेश्वर के मुख से उत्पन्न मानकर 'निगम' शब्द से व्यवहार किया गया है।

वास्तविकता तो यही है कि निगम और आगम एक दूसरे से मिले हुए तथा परस्पर के पूरक हैं। वेद के संहिता--ब्राह्मण एक ओर यज्ञकर्म का निर्देश करते हैं, तथा दूसरी दृष्टि से आगम की पद्धतियों का संकेत करते हैं। आरण्यक या उपनिषद् भाग तो आगमोक्त उपासनाओं का आकर या खजाना है।

वेद के 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' का ही अन्तरङ्ग रूप 'शिव॰ शक्त्यात्मकं जगत्' आगम का सिद्धान्त है। वेद बहिर्याग को प्रधान मानता है, आगम बहिर्याग और अन्तर्याग दोनों का समन्वय करता है। आगम का सिद्धान्त है—

'अन्तर्लिङ्गं दृढं बद्ध्वा बहिर्लिङ्गं यजेत् शिवम्'

त्रिपुरारहस्य में वेद और आगम के परस्पर संबन्धपर अत्यन्त स्पष्ट विवेचन है। ये श्लोक मननीय हैं—

वेदो ह्यागमभागः स्यात् शब्दराशिस्तथाऽऽगमः।
तस्या मूर्तिरतः सर्वं प्रवृत्तं तस्य संश्रयात्॥
त्रैर्वणिकाधिकारेण वेदरूपः प्रवर्तते।
दयया परमेशानः सर्वानुद्धर्तुमिच्छया॥
वेद आगमसञ्ज्ञानं विभावयदनुत्तमम्।
आगमः परमेशस्य विमर्श इति निश्चयः॥
क्रमेण ब्रह्ममुख्यानां मुखादुद्भावयत्तु तम्।
अपारो ह्यागमाम्भोधिः सर्वलोकेषु संगतः॥
कालेन मन्दधिषणान् कृपणानभिलक्ष्य तु।
ऋषिभिस्तमागमाब्धिं मथित्वा प्राज्यया धिया॥
सारसग्रहरूपात्मतन्त्रामृतनुत्तमम् ।
देशभेदविभेदेन पृथगेव विभावितम्॥
तत्र द्विजानां वेदोक्तकर्मभिः संस्कृतात्मनाम्।
श्रौतकर्ममुखेनैव तान्त्रिके ह्यधिकारिता॥

शूद्रादीनां तु कैवल्याद् भवेत्तन्त्राधिकारिता ।
वेद एव हि तन्त्रं स्यात्तन्त्रं वेदः प्रकीर्तितम् ॥
नाऽनयोर्विद्यते भेदो लेशांशेनाऽपि कुत्रचित् ॥

इन पङ्क्तियों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि वेद भी जगन्माता के स्वरूपही हैं तथा त्रैवर्णिकों के लिये उपादेय हैं। परन्तु भगवान् अत्यन्त दयालु है। जगत् के उद्धार के लिये ही उन्होंने आगम का भी प्रकाशन किया। आगम परमेश्वर का विमर्श है, अन्तःस्फूर्ति का रूप है। ब्रह्मा--विष्णु--शिवादि देवताओं के द्वारा अनेक आगम प्रकट हुए। आगमसमुद्र अत्यन्त विशाल है। उसका पूरा ग्रहण करना किसी के लिये संभव नहीं है। अतः महर्षियों ने उस समुद्र का मन्थन कर सारसंग्रह रूप 'तन्त्रामृत' लोककल्याण के लिये प्रसारित किया, जो विभिन्न देश की परम्पराओं में पृथक् पृथक् रूपों से प्रसिद्ध है। त्रैवर्णिक द्विजों को श्रौतकर्मपूर्वक ही तन्त्रों में प्रवेश करने का अधिकार है। इस प्रकार वेद और तन्त्रों में कोई अधिक भेद नही है।

प्राचीन आचार्यों की दृष्टि दो प्रकार की है– एक आगम को स्वतःप्रमाण मानती है, दूसरी वेदमूलक आगम की प्रामाणिकता को सिद्ध करती है। प्रथम विचारसरणि श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य, श्रीकंठ शिवाचार्य आदि आचार्यों की है। श्रीअभिनवगुप्तपाद के शब्दों में 'आगमस्तु अनवच्छिन्नप्रकाशात्मकमाहेश्वरविमर्शपरमार्थः' यह लक्षण है। यदि आप्तवाक्य आगम है, यह लक्षण बनाया जावे, तो 'आप्तस्तु यथार्थवक्ता' इस व्याख्या के अनुसार एक आप्त ने अपने पूर्ववर्ती आप्त से ज्ञान प्राप्त किया और उसने भी अपने पूर्ववर्ती से, इस प्रकार अन्ततः अनवस्था दोष आ जायेगा। अतः आगम को अनवच्छिन्न प्रकाशरूपी महेश्वर का विमर्श कहा गया। क्योंकि आत्मरूप महेश्वर ही तो विश्वमय और विश्वातीत दोनों अवस्था में समरस रहते हैं, यही उनका महेश्वरत्व है। अतः उनके लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है। आगम परमेश्वर का

ही स्वरूप है, जिसमें छोटे बड़े अनेक आगम की नदियां आकर मिल जाती हैं। यह शिवागम महासमुद्र है जिसमें शाम्भव विचारों के अनन्त चिन्तामणि प्राप्य हैं। आचार्य का पद्य है—

यं प्राप्य सर्वागमसिन्धुसंघः
पूर्णत्वमभ्येति कृतार्थतां च।
तं नौम्यहं शाम्भवतत्त्वचिन्ता-
रत्नौघसारं परमागमाब्धिम्॥

दूसरी दृष्टि पूज्यपाद श्री भास्कररायजी की है – उनका कथन है — वेदे च पूर्वकाण्डस्य शेषभूततयाऽऽश्वलायनादिकल्पसूत्राणां मन्वादिस्मृतीनां च प्रवृत्तिवत् उपनिषत्काण्डशेषत्वेन परशुरामादि-कल्पसूत्राणां यामलादितन्त्राणां च प्रवृत्तिः।

आशय यह है कि पूर्वकाण्ड के अङ्गभूत आश्वलायनादिकल्प-सूत्रों की तरह उपनिषत्काण्ड के ही शेषभूत परशुरामकल्पसूत्र आदि सूत्रग्रन्थ तथा यामलादितन्त्रग्रन्थ हैं।

श्री भास्कररायजी ने अपने टीकाग्रन्थों में अनेक स्थलों पर मूलभूत श्रुतिवचनों से तंत्रों का उपबृंहण प्रमाणित किया है। जगद्गुरु भगवान् शङ्कराचार्य की परम्परा में ही आचार्य श्री भास्करराय का प्रमुख स्थान है। दोनों दृष्टियों में विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि 'श्रुतिर्हि द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च' यह प्राचीन वाक्य है। श्रीमद्भागवत में भगवान् ने स्वयं कहा है –

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥

'ईप्सित' का अर्थ स्वेच्छा नहीं है, किन्तु जो जिस परम्परा का अधिकारी हो उसे उसी प्रकार की उपासना करनी चाहिये।

भगवान् शङ्कराचार्य की शिष्य परम्परा में वैदिक और तांत्रिक मिश्रमार्ग की अनुष्ठानपद्धति प्रचलित है। अतः निगमागम का समन्वय ही आचार्यचरणों को अभीष्ट था यह कहा जा सकता है।

आचार्यचरणों ने 'सौन्दर्यलहरी' का निर्माण कर उपासना मार्ग पर पूरा प्रकाश डाला है। ऋग्वेद के शाङ्खायनशाखा के अन्तर्गत सोलह ऋचाओं की त्रिपुरोपनिषत् है, जिसपर श्री भास्कर-रायजी का भाष्य उपलब्ध है, जो स्पष्ट रूप से वैदिक और आगमिक सिद्धान्तों के समन्वय का प्रबल प्रमाण है।

वेदमाता गायत्री भी श्रीविद्या का बाह्यरूप है। 'वरिवस्यारहस्य' में मन्त्र व्याख्या के प्रसङ्ग में यह स्पष्ट किया गया है।

आथर्वण त्रिपुरातापिनी उपनिषद् में चतुष्पदा गायत्री की तीन आवृत्तियां श्रीविद्या के एक आवृत्ति के तुल्य कही गई हैं।

एतावता निगमागम के समन्वय की कोई शङ्का नहीं रहती।

अब 'आगम' के संबन्ध में कुछ विशेष बातों पर विचार करना आवश्यक है –

'अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्युक्तान्यशेषतः'

इस नियम के अनुसार अधिकारी को देखकर ही शास्त्र उपदेश करने का निर्देश करता है। सामान्यतया श्रुति स्मृति से प्रतिपादित मार्ग सभी अधिकारियों के लिये ग्राह्य है। परन्तु जिनकी परमेश्वर कृपा से चित्तशुद्धि हो गई है तथा सद्गुरु के चरणों में पूर्ण निष्ठा है उनके लिये आगमोक्त ब्रह्मविद्याओं का मार्ग खुल जाता है। इसी लिये मनु ने जो कहा वह सर्वसाधारण समाज के लिये दवा है, 'यन्मनुरव-दत्तद्भेषजम्' यह उक्ति प्रसिद्ध है।

परन्तु आगे की भूमिकाओं में आरूढ पुरुषों के लिये शिवागम ही ग्राह्य है यह बात रुद्राध्याय के शब्दों से सिद्ध होती है –

'अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।
अहींश्च सर्वान् जम्भयन् सर्वाश्च यातुधान्यः ॥

मनु ने तो सामान्य अधिकारियों के लिये शास्त्ररूपी उपाय बताया । विशिष्ट अधिकारी के लिये प्रथमः सर्वोत्तीर्णः आदिगुरुः दैव्यः अलौकिकभिषक् भगवान् शिव ही हैं । जो अधिवक्ता अर्थात् अधिकं वक्तुं समर्थः, वह अध्यवोचतु अधिब्रवीतु मुझे उपदेश देवें यह भक्त की प्रार्थना है ।

इसी प्रकार अन्यत्र भी स्वयं वेद ही आगम के प्रवक्ता भगवान् शिव का वर्णन करता है –

यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद्विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु ॥
(नारायणोपनिषत्)

यो देवानां प्रभव उद्भवश्च विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो देवः शुभया बुद्ध्या संयुनक्तु ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषत्)

इन उद्धरणों से सिद्ध होता है कि आगे की विशिष्ट भूमिकाओं और उपासनाओं के लिये स्वयं वेद ही आगमों का मार्ग बता रहा है ।

इसी प्रकार शिव में रहनेवाली 'शिवा' का भी परिचय रुद्राध्याय में दिया है –

'शिवा रुद्रस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे'

शिव में अभिन्न रूप से रहनेवाली शिवा अनुग्राहिका शक्ति से भक्त प्रार्थना करता है, हे मृड ! भगवन् ! उस शिवारूपी औषधी से हम लोगों को आत्मरूप का आवरण करने वाले अज्ञान को हटाकर मृत्यु से त्राण करो।

इसी आशय से किसी भक्त का पद्य है –

किमशक्तः करोमीति सर्वत्राऽनध्यवस्यतः ।
सर्वानुग्राहिका शक्तिः शाङ्करी शरणं मम ॥

इस प्रकार निगमागमों के परस्पर संबन्ध की मर्यादा सर्वदा अक्षुण्ण ही रहेगी।

उपासना शास्त्र में दो प्रकार के मार्ग हैं, एक प्रवृतिप्रधान और दूसरा निवृत्तिप्रधान, प्रथम मार्ग में नित्य नियमादि का विशेष बंधन रहता है, तथा विधि-विधानों से वह बंधा हुआ है उस अवस्था को साधकदशा भी कह सकते हैं। दूसरी अवस्था सिद्धपुरुषों की है, जिनकी सहज चेष्टाएं भी शास्त्र का रूप धारण करती हैं। आगमों का वचन है—

साधकानां बुभुक्षूणां विधिर्नियतियन्त्रितः ।
ममुक्षूणां तत्त्वविदां स एव तु निरर्गलः ॥

परन्तु ऐसे महापुरुष भी लोककल्याण के लिये शास्त्रीय चर्या का पालन स्वयं करते हैं, तथा संसार में विद्याओं का प्रसार करते हैं। ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य ने विधुराधिकरण में अनाश्रमी भी ब्रह्मवित् होते थे यह कहा है, तथा रैक्व वाचक्नवी प्रभृति का उदाहरण दिया है। 'विशेषानुग्रहश्च' इस सूत्र में जपोपवासाभिषव प्रभृति देवताराधन से ब्रह्मविद्या का अनुग्रह होता है यह सिद्ध किया है। ये बातें आगमोक्त महाविद्याओं के आराधना की ओर संकेत करती हैं।

आगमशास्त्र में परमकारुणिक जगद्गुरु ने जीवमात्र को अधिकार दिया है यह विशेषता है। तन्त्रालोक में केवल मंत्रश्रवण मात्र से मुमूर्षु जीवको शिवपद प्राप्ति होती है यह उपवर्णित है।

आगमशास्त्र का एक संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-- आगमाम्भोधि अनन्त अपरिमेय है यह अनेक प्रमाणों से विदित है। उसमें भी शैवागम और श्रीविद्यागम प्रधान हैं। शैवागम शैव, रौद्र, भैरव, इन तीन धाराओं में विभक्त हैं।

उसमे भी शैवागम कामिक आदि दस द्वैतोपासना के प्रवर्तक हैं। रौद्रागम सुप्रभेद आदि अठारह हैं, ये द्वैताद्वैत मिश्र उपासना के निर्देशक हैं। भैरवागमों की संख्या चौंसठ है, ये अद्वैतमार्ग के उपदेशक हैं।

आगमों में पञ्चस्रोतों के भेदसे विभिन्न देवताओं तथा उनकी उपासना विधियों के वर्णन हैं। अधिकारी भेद तथा उपासक रुचिभेदसे उन भूमिकाओं के लिये समुचित विधियों, देवताओं, एवं मंत्रों की उपयोगिता वर्णित है। सभी शैवागमों में भैरवशासन श्रेष्ठ है।

दक्षिणादुत्तमं वामात् सिद्धान्तमुत्तमम्।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात्परतरं न हि॥

इस वचन के अनुसार पूर्वोक्त द्वैत, द्वैताद्वैत प्रभृति संप्रदायों का समावेश होता है। इन चारों में भी भैरवकुल श्रेष्ठ है। कालीकुल भी भैरवकुल के समान है। त्रिकशास्त्र भी इसी का समकक्ष है। महार्थप्रक्रिया या क्रमदर्शन ही कालीकुल का स्वरूप है। भैरवकुल में प्रधानरूप से आनन्दभैरव-आनन्दभैरवी अमृतेश्वर--अमृतेश्वरी स्वच्छन्दभैरव - अघोरेश्वरी इन देवताओं की आराधना है।

कालीकुल में महार्थप्रक्रिया के अनुसार पञ्चवाह क्रम से कालसंकर्षणी विद्या का प्राधान्य है। त्रिकशास्त्र में इसी प्रकार अपरा, परापरा, परा, इन तीन देवियों की तथा नवात्म भैरव, रतिशेखर भैरव, सद्भाव भैरव इन देवताओं की उपासना है। यह काश्मीर शिवागम की परम्परा का परिचय है। इन उपासनाओं के आगे उत्तरभूमिका रूप में त्रैपुरसिद्धान्त आगमशास्त्रों में वर्णित है। त्रैपुरकुल पूर्वोक्त सभी संप्रदायों का सारभूत एवं समष्टि-रूप है।

इसलिये आगम कहते हैं–

वागुरामूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः।
तथा मन्त्राः समस्ताश्च विद्यायामत्र संस्थिताः॥

रस्सी की गांठ में जिस प्रकार सभी सूत्र बंधे रहते हैं उसी प्रकार इस विद्या में सभी मंत्र बंधे हुए हैं।

'तस्यां परिणतायां तु न कश्चित्पर इष्यते'

इत्यादि वचन भी इसी भाव को पुष्ट करते हैं। आगमों की अनेक परम्पराएं प्रवृत्त हुई तथा तदनुसार अनेक पद्धतियों का निर्माण हुआ, उनमें गुरुक्रम की प्रधानता है।

तन्त्राणां बहुरूपत्वात्कर्तव्यं गुरुसंमतम्।

यही शास्त्रों की मर्यादा है।

निगमागमरूपी ये दोनों महाशक्ति के महाबाहु ही हैं। इनका जितना ही चिन्तन किया जाय उतने ही नूतन तत्त्वों का दर्शन होता रहेगा। भारतीय मर्यादा गुरुप्रधान है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद', बिना आचार्य के मार्ग नहीं मिलता।

आज बडे ही सौभाग्य का अवसर है कि ऐसे ही एक महान् आचार्य श्री स्वामीजी महाराज की पावन छत्रछाया में हम लोग एकत्र होकर कुछ आत्मचिन्तन या आत्मशोधन में तत्पर हैं। श्री महाराज ने धर्म और उपासना की प्रतिष्ठा के लिये अभूतपूर्व कार्य किये हैं। यद्यपि भौतिक रूप से हम उन्हें नहीं देख पा रहे हैं, परन्तु अपने दिव्य श्रीविग्रह से वे संनिहित हैं अतः मैं उनको तथा जगज्जननी श्री पीताम्बरा भगवती को प्रणामाञ्जलि अर्पित कर अपनी तुच्छ शब्दमयी सपर्या निवेदन करता हूं।

-:o:-

आगम और निगम में समन्वय

ब्रजवल्लभ द्विवेदी, शास्त्रचूडामणि आचार्य
संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी।

संत तुलसीदास अपने रामचरित मानस को नानापुराण–निगमागमसंमत बताते हैं। यहां निगम शब्द वैदिक वाङमय और आगम शब्द तन्त्रागम शास्त्र का सूचक है। इन शब्दों की प्रवृत्ति शास्त्रों में विभिन्न अर्थों में देखी जाती है। मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि "इतरेष्वागमाद् धर्मः" (१।८२) यहां आगम शब्द की व्याख्या करते समय उसको वेदशास्त्र का वाचक मानते हैं। निगम शब्द भी वेद का वाचक है, इसकी जानकारी "इत्यपि निगमो भवति" ऐसे अनेक निरुक्तवाक्यों से मिलती है। महाभाष्य के पस्पशाह्निक में "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इस वाक्य को महामुनि पतञ्जलि आगमवाक्य कह कर उद्धृत करते हैं, जो कि स्पष्टतः श्रुतिवाक्य माना जाता है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि अपने ग्रन्थ में[1] आगम शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर करते हैं। टीकाकार आगम पद से ऋषिप्रणीत शास्त्रों और निगम पद से अपौरुषेय वेदशास्त्र का ग्रहण करते हैं।

कश्मीर के महान् आगमाचार्य तान्त्रिकरप्रवर श्रीमान् अभिनवगुप्तपाद भी निगम शब्द के इसी अर्थ को मान्यता देते हैं। वे

१. 'शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः" (१।२७) "न चागमादृते धर्मः" (१।३०), "आगमेस्तमुपसीनः" (१।४१), "न जात्वकर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते" (१।१३३), "प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः" (२।४९०), "भिन्नैरागमदर्शनैः" (२।४९२), "पुराणैरागमैर्विना" (२।४९३)।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में निगम पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि[2] धर्म के स्वरूप को समझने के लिये निश्चित जानकारी देने वाला शास्त्र 'निगम' अर्थात् वेद है।

आगम पद की व्याख्या वे भिन्न पद्धति से करते हैं। तन्त्रालोक[3] में वे कहते हैं कि समस्त जागतिक पुरातन व्यवहार और प्रसिद्धि को 'आगम' नाम से जाना जाता है। प्रसिद्धि की भी परिभाषा उन्होंने[4] वहीं दी है कि प्रामाणिक व्यक्ति द्वारा उपदिष्ट वचन ही प्रसिद्धि की परिधि में आ सकते हैं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में वे कहते हैं कि[5] आगमीय ज्ञान की संक्रान्ति एक शरीर से दूसरे शरीर में (गुरु से शिष्य तक) शब्द के माध्यम से होती है। इस प्रसंग में वे भगवान् अनन्त के इस वाक्य को प्रमाण के रूप में उपस्थित करते हैं कि[6] दूसरे व्यक्ति तक अपने ज्ञान को पहुँचाने के लिये शब्द से सहायता ली जाती है। योगसूत्र व्यास भाष्य (१।७) में यह वचन आनुपूर्वी से मिलता है। इस विषय को आगे बढाते हुए वे कहते हैं कि[7] आगम पद उस व्यक्ति के लिये उसी शास्त्र का वाचक माना जायगा, जिस पर कि उसका विश्वास जम गया हो। वे पुनः कहते हैं कि[8] बुद्ध कोई निश्चित व्यक्ति नहीं है, अपनी भावना के

२. "वेद्यं धर्माद्युपायं निश्चितं गमयतीति निगमो वेदः" (भा. १, पृ. १५)।
३. इह तावत् समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः। प्रसिद्धिमनुसंधाय सैव चागम उच्यते॥ (३५।१-२)
४. प्रसिद्धिश्चाविगानोत्था प्रतीतिः शब्दनात्मिका। (३५।१९)।
५. "आगमो हि नामायं शब्दनसंक्रान्तिशरीरः" (भा. ३, पृ. ८९)।
६. "यथाह भगवाननन्तः-परत्रस्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते"
(भा. ३, पृ. ८९)।
७. "स च यो यस्य हृदये निरूढिमागतः स एव" (भा. ३, पृ. ९६)।
८. "न हि बुद्धो नाम नियतः कश्चित्, अपि तु भावनाबलप्रतिलब्धक्षणिकादिदृढविमर्शः। तस्य क्षणिकादिभावनोपदेशी गुरुः पूर्वबुद्धः, तस्याप्यन्य इति क्रमेणानियतवक्तृत्वात् पारमेश्वरविमर्शमयतैव वस्तुतः। एवं चतुर्विंशतितत्त्वभावनाभावितः कपिलो मन्तव्यः। अत एव सर्वागमा अनादय एव" (भा. ३, पृ. ९७-९८)।

सहारे क्षणिकवाद में जिसकी दृढ आस्था जम गई है, वही बुद्ध है। वर्तमान बुद्ध में इस ज्ञान का संचार पूर्व बुद्ध ने किया और उसमें भी उसके पूर्ववर्ती बुद्ध ने। इस तरह से अन्ततः पारमेश्वरी विमर्शशक्ति ही वस्तुतः इस ज्ञान की भी उपदेष्ट्री सिद्ध होती है। इसी प्रकार प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों की भावना का उपदेश देने वाले कपिलमुनि के विषय में भी समझना चाहिये। कहने का अभिप्राय यह है कि सभी आगम अनादि काल से गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से निरन्तर चले आ रहे हैं। इस प्रकार साङ्ख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत, बौद्ध, जैन आदि सभी शास्त्रों का आगम शास्त्र में समावेश किया जा सकता है।

इस प्रसंग में अभिनवगुप्त[9] वराहमिहिर के उस प्रसिद्ध श्लोक को भी उद्धृत करते हैं, जिसमें भागवत, सौर, शैव आदि के उपास्य देवों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि जो व्यक्ति जिस देवता की उपासना करता है, उसको यह उपासना उस शास्त्र में प्रदर्शित पद्धति के अनुसार ही करनी चाहिये।

आजकल आगम और निगम के लक्षणों के प्रतिपादक दो श्लोक[10] बहुत जगह उद्धृत मिलते हैं। उनका भाव यह है कि शिव के मुंह से निकल कर गिरजा के कान तक पहुँचे तथा वासुदेव का जो संमत हो, उसे आगमशास्त्र कहते है और गिरिजा के मुंह से प्रकट होकर शिव के कान तक पहुँचे तथा वासुदेव का संमत शास्त्र निगम

९. विष्णोर्भागवता मघाश्च सवितुः शंभोः सभस्मद्विजाः
मातृणामथ मातृमण्डलविदो विप्रास्त्वथ ब्रह्मणः।
शाक्याः सत्त्वहिताय बुद्धवपुषो नग्नास्तथैवार्हतो
यैर्यो देव उपास्यते स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया॥

१०. आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥
निर्गतं गिरिजावक्त्राद् गतं च गिरिशश्रुतौ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मान्निगममुच्यते॥

कहलाता है। इस लक्षण के अनुसार शिवोपदिष्ट शास्त्र आगम, और देवी के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र निगम कहलाता है। इसी परिभाषा के अनुसार कलकत्ता से प्रकाशित कुलचूडामणि ग्रन्थ को निगम के नाम से प्रसिद्ध किया गया है। यह परिभाषा वाराहीतन्त्र में उपदिष्ट प्रतीत होती है। हम समझते हैं, गोष्ठी के संयोजकों को यह परिभाषा अभीष्ट नहीं होगी और वे अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार ही उक्त शब्दों का अर्थ स्वीकार कर आगमात्मक तन्त्रशास्त्र और निगमात्मक वैदिक वाङमय में समन्वय की बात सोचते होंगे।

शाक्त तन्त्रों की एक शाखा क्रम मत के नाम से प्रसिद्ध है। इस शास्त्र का उपदेश भगवती ने शिव को दिया है। ऊपर की परिभाषा के अनुसार इसका निगम विभाग में परिगणन होना चाहिये, किन्तु क्रमदर्शन के सभी आचार्यों ने इसको आगम पद से ही संबोधित किया है। इस तरह से हम कह सकते हैं कि संपूर्ण तान्त्रिक वाङमय आगम पद से और वैदिक वाङमय निगम पद से संबोधित हुआ है। प्राय: आजकल ये दोनों शब्द इन्हीं अर्थों में रूढ हो गये हैं, ऐसा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

आगम और निगम में समन्वय स्थापित करने का कार्य रामायण, महाभारत और पुराणों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रीय निबन्ध ग्रन्थों द्वारा भी बहुत पहले ही किया जा चुका है। भगवद्गीता को हम इसके उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में उपस्थित कर सकते हैं महाभारतकार[11] ने वेद के साथ साङ्ख्य, योग, पाशुपत और पाञ्चरात्र शास्त्र को समान प्रमाणकोटि में रखा है। कालिदास जब कहते हैं--

बहुधा ह्यागमैर्भिन्ना: पन्थान: सिद्धिहेतव:।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥ (१०।२६)

---

११. साङ्ख्यं योग: पाञ्चरात्रं वेदा: पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥ (शान्ति ३४९।६४)
स्वयंप्रमाणान्येतानि न हातव्यानि हेतुभिरिति पाठान्तरमत्र दृश्यते।

और पुष्पदन्त जब कहते हैं:-

त्रयी साङ्ख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने . . .
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ (श्लोक ७)

और फिर वीरमित्रोदयकार[12] जब पूछते हैं-

"ननु साङ्ख्ययोगपाञ्चरात्रपाशुपताद्यागमा धर्मे प्रमाणमुत न"

तब वे इन सब शास्त्रों में समन्वय की बात को ही प्रतिष्ठापित करते हैं, क्योंकि परस्पर समन्वय के आधार पर ही इन सब शास्त्रों का प्रामाण्य सिद्ध किया जा सकता है।

पुराण वेदार्थ के उपबृंहक हैं, इस विषय पर तो अनेक विद्वानों ने विचार किया है, किन्तु पुराणों में आगमार्थ का भी उपबृंहण हुआ है, इस विषय पर अभी विचार नहीं के बराबर हुआ है। "आगम आणि तन्त्रशास्त्र" शीर्षक[13] मराठी निबन्ध में हमने बताया है कि अग्निपुराण के ३९-७० अध्याय 'हयशीर्ष पञ्चरात्र' के आदिकाण्ड से तथा यहीं के ७१-१०६ अध्याय सोमशंभुकृत 'कर्मकाण्डक्रमावली' से मिलते-जुलते हैं, जो कि संवत् ११३० में लीलावती शिवागम की सहायता से लिखा गया ग्रन्थ है। विरोचन कृत प्रतिष्ठालक्षणसार-समुच्चय (२।१७९-१८१) में शिवोक्त २१ प्रतिष्ठातन्त्रों के नाम दिये गये हैं। ये नाम शिवागमों तथा उपागमों अथवा उपपुराणों की सूचियों में मिलते हैं। यहां बताया गया है कि[14] लिंग, प्रासाद, द्वार, मण्डप आदि के बनाने और उनकी प्रतिष्ठा करने की विधि वेद में

---

१२. परिभाषाप्रकरण, पृ. २०, चौखम्भा, वाराणसी, सन् १९०६ ई.।

१३. वेदशास्त्रोत्तेजक सभा शताब्दी स्मारक ग्रन्थ, "प्राचीन भारतीय विद्येचे पुनर्दर्शन" पृ. १८७, पुणे, सन् १९७८

१४. न वेदे त्रिविधं लिङ्गं न च प्रासादलक्षणम्।
न द्वारं मण्डपादिश्च स्थापनं न शिवादिके ॥ (२।१५६)

वर्णित नहीं है। नारदीय पुराण[15] में भी उन विषयों की सूची दी गई है, जिनका कि वर्णन वैदिक वाङ्मय में नहीं है। पुराणों में ये सब विषय आगम अथवा तन्त्रशास्त्र से लिये गये हैं। भविष्यपुराण (२।१।११।१) में वृक्ष, आराम (उद्यान), वापी, कूप, तडाग आदि की प्रतिष्ठा तान्त्रिक विधि के अनुसार बताई गई है। इष्ट और पूर्त ये दो धर्म के अंग माने गये हैं। भोजदेव के तत्त्वप्रकाश के व्याख्याकार[16] कुमारदेव का कहना है कि इष्ट वैदिक धर्म का और पूर्त तान्त्रिक धर्म का अंग है। हम यह भी कह सकते हैं कि इष्ट पारलौकिक धर्म है और पूर्त ऐहलौकिक। पुराणों में इष्ट और पूर्त दोनों ही प्रकार के धर्मों का विशद वर्णन मिलता है। इस तरह से मूर्ति, प्रासाद आदि का निर्माण और प्रतिष्ठा तथा वापी, कूप, तडाग आदि का निर्माण और प्रतिष्ठा प्रधानतः आगम और तन्त्रशास्त्र का विषय है।

नारदीय पुराण (१।६३।१३) में पति-पशु-पाशात्मक तथा ज्ञान-योग-क्रिया-चर्यात्मक शैवागम प्रतिपादित विषयों का वर्णन मिलता है। कूर्मपुराण की ईश्वरगीता में भी स्पष्ट ही शैव सिद्धान्तों की छाप है। वैष्णवागमों का चतुर्व्यूह सिद्धान्त और प्रादुर्भाव सिद्धान्त महाभारत नारायणीयोपाख्यान, पद्मपुराण आदि में स्पष्ट ही उपबृंहित हुआ है। पुराणों में शिव और नारायण की एकता ही नहीं प्रतिपादित है, प्रत्युत शक्ति, स्कन्द, गणेश, सूर्य आदि की भी उपासना पञ्चायतन पूजा के अन्तर्गत समन्वित रूप में प्रपञ्चसार और शारदातिलक की पद्धति से उपस्थापित की गई है। इस तरह से

---

१५. न वेदे ग्रहसंचारो न शुद्धिः कालबोधिनी।
तिथिवृद्धिक्षयो वाऽपि न पर्वग्रहनिर्णयः॥
इतिहासपुराणैस्तु कृतोऽयं निर्णयः पुरा।
यन्न दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ॥
उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत्पुराणैः प्रगीयते। (२।२४।१९-२१)

१६. "धर्मो द्विविधः-इष्टः पूर्तश्चेति। तत्रेष्टो वैदिकः, पूर्तस्तान्त्रिकः" (श्लो. १९)।

यह निश्चित हो जाता है कि पुराणों की प्रवृत्ति निगमागम धर्म में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से हुई है।

ऐसा होने पर भी पुराणों में प्रधानता वैदिक दृष्टि की ही है। यहां वेदों को सर्वोपरि प्रमाण माना गया है और वर्णाश्रमव्यवस्था को पूरी तरह से स्वीकार किया गया है। आगम की दृष्टि इस विषय में भिन्न है। यहां शास्त्रों का उत्तरोत्तर प्रामाण्य[17] और मानवमात्र को मोक्ष का अधिकारी माना गया है, केवल त्रैवर्णिक को नहीं। भगवती गीता कहती है—"स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्"। इसी दृष्टि का प्रतिपादन आगमशास्त्र करते हैं। महाभारत[18] और पुराणों की रचना भी इसी उद्देश्य को पल्लवित करने के लिये हुई है। पुराण ब्रह्मा, विष्णु और महेश को एक ही ब्रह्म की तीन मूर्तियां मानते हैं। नारदीय पुराण (१।६३।१२) में पशुपत तन्त्र को भागवत आगम तथा भगवान् शिव को विष्णु बताया गया है। इस दृष्टि को आगमशास्त्र और आगे बढ़ाते हैं। स्पन्दप्रदीपिका (पृ० ९२) में उद्धृत मायावामनसंहिता का कहना है कि विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध आदि के रूप में भगवान् एक ही है। नेत्रतन्त्र के १३ वें अधिकार में जयाख्या, मायावामनिका, सौरसंहिता आदि के प्रमाण पर इनकी पूजाविधि भी वर्णित है।

पाञ्चरात्र संमत षाड्गुण्य का विष्णुपुराण में इस तरह से वर्णन मिलता है—

---

१७. "सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदाः" इत्यादि कुलार्णव (२।७–८) वचन तथा "वेदाच्छैवं ततो वामम्" इत्यादि परात्रिंशिकाव्याख्या (पृ. ९२) धृत वचन इस प्रसंग में देखिये।

१८. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥ (भागवत १।४।२५)
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम्।
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च॥ (देवी भागवत १।३।२१)

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥ (६।५।७४)

और शैवागमसंमत षाड्गुण्य का वायुपुराण में इस तरह से वर्णन है –

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥
(१२।१३)

वैष्णव और शैव दृष्टि में समन्वय की स्थापना करने वाले काश्मीरक उत्पल वैष्णव अपनी स्पन्दप्रदीपिका (पृ. १०३) में उभयविध षाड्गुण्य का दर्शनीय समन्वय स्थापित करते हैं। वायु॰ पुराण (१०४।१६) में ब्राह्म, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त और आर्हत नाम के छः दर्शनों को मान्यता दी गई है। शक्तिसंगमतन्त्र (१।२।८५-८८) में तारा, त्रिपुरा और छिन्ना के भेद से छः छः दर्शनों का वर्णन मिलता है, जिनमें कि बौद्ध और जैन दर्शन भी समाविष्ट हैं।

स्पष्ट है कि आगम और निगम में समन्वय का कार्य पुराण वाङ्मय द्वारा तथा उत्पल वैष्णव, अभिनवगुप्त जैसे आगमाचार्यों द्वारा बहुत पहले किया जा चुका है। हम आगम और निगम शब्द की नयी व्याख्या कर पूरे जागतिक ज्ञान का इनमें समावेश कर सकते हैं। प्रायः प्रत्येक धर्म की यह मान्यता है कि ईश्वर ने, किसी अलौ॰ किक शक्ति ने प्रत्येक धर्म की प्रतिष्ठा की है और उसी शक्ति ने मनुष्य को ज्ञान भी दिया है। ऐसे अलौकिक ज्ञान को हम निगम विभाग के अन्तर्गत रख सकते हैं और दिव्यौघ, सिद्धौघ तथा मानवौघ परम्परा द्वारा परिबृंहित ज्ञान को आगम विभाग के अन्तर्गत। रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, धर्मशास्त्रीय निबन्ध ग्रन्थ आदि में किये गये निगमागम धर्म के समन्वय में निगम दृष्टि की प्रधानता रही है,

किन्तु हमने जिस निगमागम विभाग की चर्चा की है, उनमें परस्पर समन्वय का आधार आगम की विश्वात्मता दृष्टि ही हो सकती है। आगमशास्त्र मानवमात्र को ज्ञान का, मुक्ति का अधिकारी मानते हैं। मुकुटसंहिता[१९] का कहना है कि ब्राह्मण पाप कर्म में प्रवृत्त रहता है और शूद्र सत्कर्म का आचरण करता देखा गया है। ऐसी स्थिति में किसी जाति को सदाचरण और दुराचरण का आधार नहीं माना जा सकता। मुकुटसंहिता[२०] ही कहती है--

> द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः।
> स प्रियस्तु महेशस्य चतुर्वेदो न दाम्भिकः।

अर्थात् द्विज भी यदि कपटपूर्ण व्यवहार करता है, तो उसका परित्याग कर देना चाहिये और म्लेच्छ यदि पवित्र मन का है, तो उसका संग्रह होना चाहिये। ऐसा पवित्र आचरण वाला म्लेच्छ शिव को प्रिय है, चारों वेदों का अध्ययन करने वाला कपटी ब्राह्मण नहीं। इसी आगमिक दृष्टि को आगे कर तथा इसके साथ निगम धर्म के चिरन्तन सत्यों का समावेश कर हम आज सभी धर्मों में समन्वय स्थापित कर सकते हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि राष्ट्रगुरु बाबा की कर्मभूमि दतिया स्थित पीताम्बरा पीठ में इस विषय का उपक्रम हो रहा है॥

-:०:-

---

१९. ब्राह्मणेन कृतं पापं शूद्रेण सुकृतं कृतम्।
किं तत्र कारणं जातिर्धर्माधर्मेषु शस्यते॥
मुकुटसंहिता के इस तथा अन्य वचनों का संग्रह स्थलनिर्देशपूर्वक लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग, पृष्ठ १४१ में किया गया है।

२०. तन्त्रालोकविवेक, भा. ९, आ. १५, पृ. २५५ देखिये। अभिनवगुप्त का यह वचन भी यहां अवलोकनीय है–"योनिर्न कारणं तत्र शान्तात्मा द्विज उच्यते। मुनिना मोक्षधर्मादावेतच्च प्रविवेचितम्"॥ (१५।५१३–५१४)। विवेककार ने यहां मोक्षधर्म के चार श्लोकों को उद्धृत किया है।

निगम एवं आगम–भारतीय ज्ञान की दो आँखें

कमलाकर मिश्र

दर्शन विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

साधारणतया यह समझा जाता है कि भारतीय दर्शन, धर्म एवं संस्कृति का मूल स्रोत वेद (निगम) है, और इस संदर्भ में तन्त्र (आगम) की ओर लोगों का ध्यान कम जाता है । किन्तु भारतीय चिन्तनधारा को पूर्ण बनाने में तन्त्र का भी उतना ही महत्त्वपूर्ण योगदान है जितना वेद का । तन्त्र-परम्परा पर बिना ध्यान दिए यदि हम भारतीय जीवन–दर्शन को समझना चाहें तो हमारी समझ एकांगी होगी । वस्तुत: वेद और तन्त्र दोनों मिलकर भारतीय ज्ञानपरम्परा को पूर्ण करते हैं । वैदिक और तान्त्रिक परम्पराएं होने को तो दो हैं किन्तु उनकी आभ्यन्तर दृष्टि एक ही है । जैसे मनुष्य की आँखें दो होती हैं किन्तु उन दोनों की दृष्टि एक होती है, वैसे ही निगम और आगम होने को दो हैं किन्तु उनकी दृष्टि वस्तुत: एक ही है । जैसे दूसरी आँख को मूंदकर केवल एक आँख से ही देखने पर वस्तु को देखने में कठिनाई होती है, उसी प्रकार निगम और आगम में से केवल एक ही दृष्टि से देखने पर सत्य को देखने में कठिनाई होगी । अतः जैसे दोनों आँखें एक दूसरे की पूरक होती हैं, उसी प्रकार आगम और निगम एक दूसरे के पूरक हैं ।

दार्शनिक ज्ञान के क्षेत्र में तो दोनों का समन्वय है ही, व्याव-हारिक क्रियाक्षेत्र में भी दोनों धाराएं एक हो जाती हैं । भारतीय

जीवन में जहां वैदिक या औपनिषद परम्परा के अनुसार ब्रह्म या परम आत्मा को सबके परे देखने की विधा है, वहीं तान्त्रिक परम्परा के अनुसार सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में परम शिव या शक्ति के दर्शन करने का प्राविधान है। विश्वोत्तीर्णता (ट्रान्सेण्डन्स–Transcendence) एवं विश्वमयता (इमानेन्स–Immanence) का–त्याग एवं ग्रहण का–इन दोनों का सटीक समन्वय जैसा भारतीय संस्कृति में परिलक्षित होता है वैसा संभवत: अन्यत्र नहीं मिलता, और इसका श्रेय वैदिक एवं तान्त्रिक परम्पराओं के संमिलन को ही है। यह भी मजे की बात है कि तान्त्रिक परम्परा को वाममार्ग कहा जाता है एवं वैदिक परम्परा को दक्षिणमार्ग कहा जाता है। वाममार्ग ने तथाकथित त्याज्य एवं घृणित वस्तु को भी उदात्त बनाकर ग्रहण करने की विधा दी है जिससे हम उसी ऊंचाई पर आसानी से पहुँच जाते हैं जहाँ पहुंचने के लिए दक्षिण मार्गी इंगित करता है। शरीर में भी वामहस्त एवं दक्षिणहस्त दोनों मिलकर एक ही क्रिया को संपादित करते हैं। भारतीय जीवनधारा में ये दोनों कभी दो रहे ही नहीं। भारतीय संस्कृति के प्रत्येक अंग–धर्म, साहित्य, कला, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन–सबमें दोनों का समन्वय परिलक्षित होता है। जैसे एक ही हिमालय से निकलने वाली गंगा एवं यमुना मैदानी कर्मक्षेत्र में आकर दोनों मिलकर एक हो जाती हैं एवं संमिलित धारा के रूप में भारतीय भूभाग को आप्लावित करती हैं, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म या शिव से निकलने वाली निगम और आगम की दो धाराएं संस्कृति के क्षेत्र में उतर कर एक हो जाती हैं एवं संमिलित रूप से भारतीय जनजीवन को आप्लावित करती हैं।

दार्शनिक दृष्टि से उपनिषद (जिसे वेद का अन्तिम भाग अथवा सारतत्त्व होने के कारण वेदान्त कहते हैं) का विशेष महत्त्व है। उपनिषद में शक्ति की अवधारणा यद्यपि पूर्णरूप से विकसित एवं पल्लवित नहीं है, किन्तु बीजरूप से तथा स्पष्ट रूप से वर्तमान है; तन्त्र ने इस बीज को पूर्ण रूप से विकसित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया है। ब्रह्म की सृष्टिक्रिया बतलाने वाले वाक्य, जिन्हें

उपनिषद में स्पष्ट रूप से कहा गया है, ब्रह्म में उस तत्त्व का इंगित करते हैं जिसे तन्त्र में शक्ति, क्रिया, विमर्श, या स्पन्द कहा गया है। "उसे अकेले अच्छा नहीं लगा, उसने इच्छा किया एक हूं बहुत हो जाऊं" (एकाकी न रेमे, स ऐक्षत एकोऽहम् बहु स्याम्), "आनन्द से ही ये सभी भूत-प्राणी पैदा होते हैं" (आनन्दाद्ध्येव हि खल्विमानि भूतानि जायन्ते) इत्यादि वाक्य स्पष्ट रूप से शक्ति या स्पन्द की अवधारणा को स्वीकार करते हैं। ऐसे वाक्यों को कहानी (आख्यायिका) कहकर टाल देना—जैसा कि शंकराचार्य ने किया है—उपनिषद के साथ अन्याय करना है। केनोपनिषद् के यक्षोपाख्यान में, 'सुनहले वर्ण की उमा' (उमा हैमवती) का जो प्रसंग आया है उससे इंगित होता है कि ब्रह्म (यक्ष) शिव है तथा उमा शक्ति है। कहना न होगा कि तन्त्र-परम्परा में 'उमा' या 'पार्वती' को शक्ति का ही प्रतीकात्मक पर्याय मानते हैं।

सारा तन्त्रशास्त्र इसी शक्ति की अवधारणा का विकास है। तन्त्र ने परमतत्त्व चैतन्य (चिति या संवित्) को शक्ति रूप में देखा है। चैतन्य ज्ञानरूप तो है ही यह तन्त्र ने निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है – ज्ञान के विना चैतन्य का कोई अर्थ ही नहीं है, जड़ से चेतन का यही तो भेद है कि चेतन में ज्ञान है, जड़ में नहीं – किन्तु यह चैतन्य निष्क्रिय निःशक्त नहीं है वरन् स्पन्दनशील शक्तिरूप है। चैतन्य केवल ज्ञानरूप न होकर वस्तुतः ज्ञान-क्रियारूप अथवा प्रकाश-विमर्शरूप अथवा शिव-शक्ति रूप है। उपनिषद् में चैतन्य की क्रियारूपता को स्वीकार करते हुए भी विशेष आग्रह ज्ञानरूपता पर है; वहां आत्मज्योतिरूप 'प्रज्ञानं ब्रह्म' की अवधारणा को विकसित किया गया है। अतः उपनिषद् के साथ-साथ ऐसे शास्त्र की आवश्यकता है जो ब्रह्म की शक्तिरूपता को भी पूर्ण विकसित करे, 'प्रज्ञानं ब्रह्म' के साथ-साथ 'आनन्दं ब्रह्म' की अवधारणा को भी समुचित महत्त्व दे, ताकि श्रुति (उपनिषद्) का अर्थ एकांगी लगा लेने की भूल न हो सके। यह काम तन्त्रशास्त्र करता है। इस दृष्टि से तन्त्र या आगम को वेद या निगम का पूरक कह सकते हैं। साथ

ही, चतन्य के ज्ञानरूप की अवधारणा उसके क्रियारूप की अवधारणा में खो न जाय, इसके लिए उपनिषद् की भी आवश्यकता है। अतः आगम और निगम वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं।

उक्त बात मान्त्रिक प्रतीक के रूप में भी कही जा सकती है। 'ॐ' वैदिक प्रणव मंत्र है जो ब्रह्म या शिव का प्रतीक है; 'ह्रीं' तान्त्रिक बीजमन्त्र है जो शक्ति का प्रतीक है। अतः 'ॐ ह्रीं' ये दोनों मिलकर पूर्ण मंत्र बनते हैं।

परमतत्त्व चैतन्य जिसे ब्रह्म या आत्मा या शिव कहा गया है, विश्वोत्तीर्ण (ट्रान्सेण्डण्ट – (Transcendent) एवं विश्वमय (इमानेण्ट (Immanent) दोनों है। परमतत्त्व के इस द्वैध स्वरूप को निगम एवं आगम दोनों परम्पराओं में स्वीकार किया गया है। उपनिषद् में 'नेति नेति' एवं 'नेह नानास्ति किंचन' के साथ-साथ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' को स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार तन्त्र में शिव अथवा शक्ति को विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों कहा गया है। किन्तु उपनिषद में ब्रह्म की विश्वमयता की स्वीकृति होने पर भी विशेष आग्रह ब्रह्म की विश्वोत्तीर्णता पर दीखता है। उसी प्रकार आगम (तन्त्र) में शिव की विश्वोत्तीर्णता को स्वीकार करते हुए भी विशेष आग्रह शिव की विश्वमयता पर दीखता है। इस दृष्टि से भी निगम एवं आगम परम्पराएं एक दूसरे की पूरक हैं, जिससे तत्त्व की विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता दोनों का संतुलन बना रहे।

बात यह है कि तत्त्व की विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता दोनों को एक साथ लेना आवश्यक है। विश्व को आत्मसात् करने के लिए भी विश्व से ऊपर उठना होगा एवं उस ऊंचाई से विश्व को अपनी शक्ति के स्फार के रूप में अपनाना होगा, तभी विश्व को आत्मसात् किया जा सकता है। एक दृष्टान्त की सहायता से यह बात स्पष्ट होगी। कई फूलों की एक माला अगर बननी है तो उन फूलों में से एक फूल बाकी फूलों को अपने में गूंथ नहीं सकता,

इसके लिए तो एक सूत्र की आवश्यकता है जो उन फूलों से भिन्न एवं परे हैं। किन्तु साथ ही महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि वह सूत्र फूलों से ऐसा भिन्न और परे भी नहीं है कि फूलों से उसका संबन्ध ही न हो सके; वस्तुत. वह सूत्र उन फूलों में अनुस्यूत भी है। तात्पर्य यह कि फूलों को माला बनाकर आत्मसात् करने वाला सूत्र एक साथ ही फूलों से भिन्न एवं परे भी है तथा फूलों में अनुस्यूत भी है। उसी प्रकार विश्व को आत्मसात् करने के लिए विश्व से परे उठना आवश्यक है, विश्वमय होने के लिए विश्वोत्तीर्ण होना जरूरी है।

इसी बात से यह बात भी निकलती है कि प्रवृत्ति के लिए निवृत्ति आवश्यक है और निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति आवश्यक है। प्रवृत्ति के लिए निवृत्ति इसलिए आवश्यक है कि प्रवृत्ति का सुख भी गुणात्मक दृष्टि से (qualitatively) अच्छे प्रकार से हम तभी ले सकते हैं जब कि भोगप्रवृत्ति से ऊपर उठकर हम अपने आत्मा में स्थित हों, क्योंकि भोग्यवस्तु में जो सुख है वह स्वयं भोग्यवस्तु का नहीं है वरन् आत्मा के ही आनन्द का बहिःस्फुटन है। जैसे चन्द्रमा का प्रकाश स्वयं चन्द्रमा का नहीं है वरन् सूर्य का है, उसी प्रकार जगत् की भोग्यवस्तु का आनन्द स्वयं वस्तु का नहीं वरन् आत्मा का है। इसीलिए जो व्यक्ति आत्मा में स्थित होता है वही संसार का वास्तविक सुख ले सकता है। उदाहरण के लिए किसी सुन्दरी स्त्री को भोग की दृष्टि से लिया जाय तो उसमें बहुत स्थूल किस्म का थोडा सुख मिलेगा; किन्तु यदि उसी स्त्री को प्रेम की दृष्टि से लिया जाय तो पहले की तुलना में बहुत अच्छे किस्म का एवं अधिक आनन्द मिलेगा। प्रेम आध्यात्मिक वस्तु है जो हमें स्वतन्त्र बनाता है तथा साथ ही विश्व को आत्मसात् कराता है।

निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति इसलिए आवश्यक है कि यदि भोग-वासनाओं को मारकर अथवा उनका तिरस्कार कर हम केवल त्यागमार्ग पर चलेंगे तो वे वासनाएं मरेंगी नहीं, केवल दमित होकर

हमारे अन्तर्मन में विराजमान रहेंगी एवं मानसिक रोग का कारण बनेंगी। वासनाओं पर विजय उनके उदात्तीकरण से ही हो सकती है, त्याग से नहीं। जैसे जल को बाष्प बनाकर ही उससे छुट्टी पाई जा सकती है, जल को समाप्त करने के किसी भी अन्य प्रयास से जल समाप्त नहीं होगा; उसीप्रकार वासनाओंका उदात्तीकरण कर ही उनसे मुक्ति पायी जा सकती है, उनको मारने का कोई भी प्रयास असफल हो नहीं अहितकर भी होगा। इसीलिए ईशावास्योपनिषद में कहा है, "जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं वे लोग तो अंधकार में पड़ते ही हैं, किन्तु जो लोग केवल विद्या में रत हैं वे लोग तो और भी अधिक अंधकार में पड़ते हैं। जो व्यक्ति विद्या एवं अविद्या दोनों को साथ-साथ समझता है, वह अविद्या की सहायता से मृत्यु का तरण कर विद्या की सहायता से अमृतत्व की प्राप्ति करता है।[1] उपनिषद् के इस वाक्य में वासना के उदात्तीकरण के सिद्धान्त की ओर इंगित है जिसका प्रचुर विकास तन्त्र में हुआ है। जैसे गन्दे मलमूत्र के रस को खाकर पोधा उसे बदलकर सुन्दर फूल एवं फल के रूप में प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार तन्त्र ने ऐसी विधा दी है जिससे गन्दी वासनाएं उदात्त होकर स्वस्थ सुन्दर हितकर रूप में प्रकटित हों। कुलार्णव तन्त्र में कहा है कि यह मार्ग ऐसा है जिसमें भोग योग बन जाता है, पाप पुण्य हो जाता है तथा संसार मोक्ष का साधन बन जाता है।[2]

साधारणतया औपनिषद मार्ग को निवृत्ति–मार्ग एवं तन्त्रमार्ग को प्रवृत्तिमार्ग समझा जाता है; किन्तु वस्तुत: दोनों जगह दोनों का समन्वय है। हाँ, यह अवश्य है कि औपनिषद मार्ग में निवृत्ति

---

१. अन्धं तमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ ९
विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ ११

२. भोगो योगायते साक्षात्पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि॥ २/२४

की व्याख्या अधिक है और तन्त्रमार्ग में प्रवृत्ति की व्याख्या अधिक है। इस दृष्टि से भी दोनों मार्ग एक दूसरे के पूरक हैं, ताकि निवृत्ति एवं प्रवृत्ति का समन्वय बरकरार रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्त्वदर्शन एवं साधना इन दोनों दृष्टियों से देखने पर आगम का निगम से समन्वय दीखता है। यहां एक प्रश्न उठ सकता है कि जब आगम वही बात कहता है जो निगम में भी है तो फिर आगम अनावश्यक हुआ। निगम के रहते फिर आगम की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि एक ओर तन्त्र कोई वेदविरोधी बात नहीं करता, तन्त्र में वेद का समर्थन एवं समन्वय है। दूसरी ओर तन्त्र वेद की पुनरुक्ति-मात्र नहीं है जिससे कि तन्त्र को अनावश्यक समझा जाय। बात यह है कि वेद (निगम) में बहुत सी बातें केवल बीजरूप में कही गई हैं जिनका विस्तार तन्त्र (आगम) में होता है; कई बातों की व्याख्या निगम में समुचित रूप में नहीं हो पाई है जो आगम करता है; जिन प्रश्नों पर समुचित आग्रह की आवश्यकता है और निगम में वह आग्रह नहीं दिखाया गया है उसे आगम दिखाता है। थोड़े में, यह कहा जा सकता है कि निगम के अधूरे काम को आगम पूरा करता है। यही दिखलाने का थोडा प्रयास इस लेख में ऊपर किया गया है।

तन्त्र का वेद के साथ समन्वय है कि वा तन्त्र वेद का पूरक है इस बात को स्वयं तन्त्र में स्वीकार किया गया है। कुलार्णव तन्त्र में भगवान शंकर पार्वती से कहते हैं--'वैदिक षड्दर्शन मेरे अंग हैं, जैसे पाँव, पेट, हाथ, सिर आदि। इनमें जो भेद करता है वह मानो मेरे अंग को काटता है। कुलमार्ग के भी ये ही षडंग होते हैं। अतः हे प्रिये! वेदात्मक मार्ग को कौलात्मक समझो'[३]।

---

३. षड् दर्शनानि मेऽङ्गानि पादौ कुक्षि करौः शिरः।
तेषु भेदं तु यः कुर्यात् ममाङ्गं छदयत्तु सः॥
एतान्येव कुलस्याऽपि षडङ्गानि भवन्ति हि।
तस्माद् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलात्मकं प्रिये॥ २/८४-८५

सत्य के विषय में जानकारी हासिल करने की प्रक्रिया की दृष्टि से भी निगम एवं आगम के बीच एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण समन्वयात्मक बात सामने आती है। यह बहुत ही अर्थपूर्ण बात है कि वेद को निगम एवं तन्त्र को आगम कहा जाता है। वेद निगम है क्योंकि वहां सत्य को जानने में निगमन-प्रणाली (Deductive method) को अपनाया गया है; तन्त्र आगम है क्योंकि वहां सत्य को जानने में आगमन-प्रणाली (Inductive method) को अपनाया गया है। तर्क-शास्त्र के विद्यार्थी यह जानते हैं, निगम या निगमन (Deduction) में आधारवाक्यों को मान लिया जाता है एवं उनके आधार पर उचित निष्कर्ष निकाला जाता है। किन्तु आगम या आगमन (Induction) में आधारवाक्यों को मान नहीं लिया जाता वरन् अपने अनुभव में देखकर आधारवाक्य प्राप्त किए जाते हैं और फिर उनसे सामान्य निष्कर्ष निकाला जाता है।

वेद के विषय में यह मान्यता है कि यह अपौरुषेय ज्ञान है क्योंकि यह आदमी के द्वारा खोजा गया नहीं है वरन् ईश्वरप्रदत्त ज्ञान (रेवेलेशन-Revelation) है। इसी बात को काव्यात्मक भाषा में कहा गया है कि वेद भगवान के निःश्वास से उद्भूत हुए हैं (यस्य निःश्वसितं वेदाः)। ऋषि लोग उस ज्ञान के मात्र ग्रहीता हैं (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः)। मीमांसक लोग वेद को भगवान की सृष्टि नहीं मानते, क्योंकि वे लोग भगवान को ही नहीं मानते, किन्तु उन लोगों के अनुसार भी वेद नित्य, स्वतन्त्र एवं अपौरुषेय ज्ञान है जो योग्य ऋषियों के प्रति उद्घाटित हुआ है। तात्पर्य यह कि ये लोग भी भगवान को न मानते हुए भी वेद को ऐसा स्वतन्त्र ज्ञान मानते हैं जो मनुष्यको ऊपरसे प्राप्त हुआ है-जिसे अंग्रेजी में 'रेवेलेशन' कहते हैं। चूंकि वेद अपौरुषेय ज्ञान (Revealed knowledge) है, इसलिए उसे सत्य मान लिया जाता है और उसे सत्य मानकर उसी आधारवाक्य से निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इसीलिए वेदको निगम या निगमन (Deduction) कहा जाता है।

तन्त्र के विषय में यह अवधारणा है कि उसमें जो ज्ञान है वह वस्तुतः ज्ञानी योगी जनों के द्वारा अपने अनुभव में प्राप्त ज्ञान है। अभिनवगुप्त इसीलिए तन्त्रमार्ग को अनुभव-संप्रदाय कहते हैं ("अनुभव संप्रदायोपदेशपरिशीलनेन.........." -परात्रिशिका विवरण पृ० १६२)। हां, यह अनुभव सामान्य ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभव नहीं है वरन् अतीन्द्रिय अतिबौद्धिक उच्चानुभव है जिसे ईश्वरावस्था में पहुंचकर या ईश्वररूप होकर प्राप्त किया जाता है। अभिनवगुप्त का कहना है कि हमारी अन्तस्संवित (Higher Self) ही ईश्वर है और उसी का अन्तर्ज्ञान शब्दरूप में प्रकटित होकर आगम नाम से जाना जाता है, जो अन्तर्ज्ञान प्रत्यक्षादि ज्ञानों का भी जीवन है[४]। तात्पर्य यह कि आगम वस्तुतः हमारा ही अन्तरनुभव या उच्च अनुभव (Higher experience) है। उसे शिव--पार्वती के संवाद के रूप में बांधना तो एक साहित्यिक विधा है। इस प्रसंग में भी अभिनवगुप्त का पुनः कहना है कि हमारा ही स्वात्मा जो स्वयंप्रकाश है वही अपने को प्रश्नकर्त्री संवित् एवं उत्तरदात्री संवित् के रूप में बांट कर संम्वाद करता है[५]। तात्पर्य यह कि शिव--पार्वती का संवाद वस्तुतः परमात्मप्राप्त योगी की अन्तःसंवित् का ही संवाद है। कथ्य वस्तु यह है कि तन्त्र वस्तुतः उच्चानुभवप्राप्त योगियों का ज्ञान है। इसी लिए तन्त्र को आगम या आगमन (Induction) कहते हैं। उस अनुभव की जो परम्परा चली आ रही है उसे भी आगम कहते हैं (आगच्छति इति आगमः)।

---

४. आगमस्तु नामान्तरः शब्दनरूपो द्रढीयस्तमविमर्शात्मा चित्स्वभावस्य
ईश्वरस्य अन्तरङ्ग एव व्यापारः प्रत्यक्षादेरपिजी वितकल्पः।
ई० प्र० वि० २/३/२

५. स्वात्मा सर्वभावस्वभावः स्वयं प्रकाशमानः स्वात्मानमेव
स्वात्माऽविभिन्नेन प्रश्नप्रतिवचनात् प्रष्टृप्रतिवक्तृस्वात्ममयेन।
अहंतया चमत्कुर्वन् विमृशति। -परात्रिशिका विवरण पृ० १४-१५

ऊपर जो यह कहा गया है कि वेद निगमन है और तन्त्र आगमन है इसका अर्थ यह नहीं है कि वेद में आगमन है ही नहीं अथवा तन्त्र में निगमन है ही नहीं। वस्तुतः दोनों में दोनों है। उपनिषद में कहा गया है कि आत्मा का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करना चाहिए (आत्मा वा रे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः)। श्रवण या श्रुति के बाद मनन या मति है और अन्त में निदिध्यासन या अनुभूति है जिससे आत्मा को स्वयं अनुभव किया जाता है। इस प्रकार श्रुति, मति एवं अनुभूति तीनों हैं, श्रुति के द्वारा कही बात को अनुभूति के द्वारा स्वयं देखा जा सकता है और लोगों ने देखा भी है।

गीता में कहा है कि सत्यासत्यको तत्त्वदर्शियोंने देखा है (उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः)। इस देखी गई बात को कहने की परम्परा भी चली आ रही है। ईशावास्योपनिषद में कहते हैं– हमने धीरपुरुषों से ऐसा सुना, जिन्होंने हमारे प्रति इसकी व्याख्या की (इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे)। तात्पर्य यह कि निगममार्ग में आगमप्रणाली भी है। इसी प्रकार आगममार्ग में निगमप्रणाली भी है। तन्त्र तो भगवान शिव का वचन माना ही जाता है। कहा गया है कि स्वयं भगवान शिव ने गुरु-शिष्य का रूप धारण कर प्रश्नोत्तर के रूप में तन्त्र की अवतारणा की।[६] तात्पर्य यह कि तन्त्रमार्ग में भी निगमनप्रणाली स्वीकार की गई है।

यद्यपि वेद में भी आगमन है तथा तन्त्र में भी निगमन है, तथापि वेद मुख्यतया निगमनात्मक है तथा तन्त्र मुख्यतया आगमनात्मक है; और इस तथ्य की दृष्टि से भी वेद और तन्त्र का समन्वय होता है। बात यह है कि जो ईश्वरप्रदत्त अपौरुषेय ज्ञान है वह यदि अनुभूति में नहीं आया तो केवल विश्वास की वस्तु बनकर

६. गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवो सदाशिवः।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥

रह जाएगा, अत: उसे अनुभूति में भी आना आवश्यक है। अनुभूति से ही उसकी पुष्टि होगी एवं उसका सत्यापन (Verification) होगा। वेद में जो आगमन है और तन्त्र में जो निगमन है उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है। तात्पर्य यह कि निगम का सत्यापन एवं पुष्टि आगम के द्वारा होती है। अतः दोनों मिलकर एक ही हैं– जो ईश्वरप्रदत्त ज्ञान है वह हमारी अनुभूति का भी विषय है। 'ईश्वर ने कहा है' तथा 'हमने उच्चानुभव किया है' ये दोनों कथन एकार्थक हैं। इसीलिए हमारे यहाँ ईश्वरप्रदत्त ज्ञान एवं स्वानुभूतिजन्य ज्ञान में कोई भेद नहीं किया गया है, तथा उसे प्रकटित करने में ऐसी भाषा का प्राय: प्रयोग किया जाता है जिससे दोनों अर्थ निकलते हैं। वस्तुत: दोनों में भेद है ही नहीं।

ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों की तुलना में भारतीय धर्म का एक बहुत बड़ा अन्तर है कि सेमेटिक धर्म केवल ईश्वरप्रदत्त ज्ञान पर ही आधारित है। वहां इस ज्ञान का सत्यापन करने का प्राविधान नहीं है। वहां एक तरह से एकतरफा स्थिति है—ईश्वर ने कहा है और हमें उसे मान लेना है, हम उसकी सही-गलती का पता नहीं लगा सकते हैं। वह ज्ञान हमारे लिए केवल विश्वास की वस्तु बनकर रह जाता है; इसीलिए सेमेटिक कुल में धर्म का दूसरा नाम 'विश्वास' (Faith) है। किन्तु भारतीय धर्म में ईश्वर की बात को हम इसलिए नहीं मानते कि उसे ईश्वर ने कहा है, बल्कि इसलिए मानते हैं कि हमारे अनुभव में भी वह बात सच्ची उतरती है। श्रुति की बात इसलिए मानते हैं कि वह मति एवं अनुभूति के द्वारा पुष्ट होती है। श्रुति कोरे विश्वास की वस्तु न रहकर अनुभव की वस्तु हो जाती है। शंकराचार्य ने एक स्थान पर कहा है कि यदि श्रुति कहे कि अग्नि ठंढी होती है और अनुभव में दीखे कि अग्नि गरम होती है, तो यहां अनुभव ही विश्वसनीय है। तात्पर्य यह कि श्रुति की भी कसौटी अनुभूति ही है। इसीलिए भारतीय अध्यात्मविद्या कोरे

विश्वास अथवा कल्पना पर आधारित चिन्तनमात्र (Speculation) नहीं है वरन् एक विज्ञान (Science) है। निगम की अध्यात्मविद्या को विज्ञान बनाने का श्रेय आगम को ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निगम और आगम एक ही ज्ञान के दो पहलू हैं; दोनों मिलकर पूर्ण ज्ञान बनाते हैं। अत: यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि निगम और आगम दोनों भारतीय ज्ञान की दो आँखें हैं, जो दोनों मिलकर एक ही वस्तु देखती हैं। इसीलिए भारत में कभी निगम और आगम को अलग अलग नहीं समझा गया। भारतीय जीवनधारा में भी दोनों का समन्वित रूप ही बहता रहा है। भारतीय संस्कृतिरूपी प्रयाग में निगम एवं आगम रूपी गंगा एवं यमुना की धारा एकीभूत होकर भारतीय जन-जीवन को को आप्लावित करती रही है। अंत में हम महर्षि अरविन्द के इस कथन से इस लघु निबन्ध को पूर्ण करेंगे कि भारतीय संस्कृति केवल वैदिक नहीं है अथवा केवल आगमिक भी नहीं है, वरन् दोनों का संमिलित रूप है।



निगमागमसमन्वय

डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, वाराणसी

ह्लादिनी संधिनी संविदभिधानान्तरङ्गिका ।
तटस्था बहिरङ्गा च जयन्ति प्रभुशक्तयः ॥

निगम और आगम की अभिन्नता

प्रारंभ से ही 'तान्त्रिक धर्म' वैदिक धर्म का साथी है, क्यों कि दोनों का आविर्भाव हरि–हर के द्वारा हुआ है। अतः जैसे हरि और हर में अभेद है, वैसे ही वेद और तन्त्र अर्थात् 'निगम' और 'आगम' में भी अभेद है। श्रीमद्भागवत में भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि 'वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मख'–अर्थात् वैदिक, तान्त्रिक तथा वेद और तन्त्र से मिश्रित तीन प्रकार का मेरा यज्ञ है। वैदिक और तान्त्रिक उपासना को पृथक्-पृथक् करने से 'द्वैत' की ही प्रधानता रहेगी। किन्तु वेद और तन्त्र के मिश्रित हो जानेपर 'अद्वैत' की प्रधानता हो जायगी। अतएव तलस्पर्शी विचार करनेवाले विदित-वेदितव्य हमारे महर्षियों ने अपनी संतान-रूप आर्य जनता के कल्याणार्थ वेद–तन्त्र से मिश्रित कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड दोनों पद्धतियों का निर्माण किया। जिससे वेद और तन्त्र की अभिन्नता को लोग न भूल सके। दोनों का लक्ष्य एक ज्ञानकाण्ड ही है।

भेद का साथी भय

आगम अर्थात् तन्त्र शास्त्र से अनभिज्ञ आज की जनता पर वेद और तन्त्र अर्थात् निगम और आगमके परस्पर भेद का भूत सवार

हो गया है। आज की अनभिज्ञ और भेदभूत से ग्रसित जनता 'तन्त्र' या 'तान्त्रिक' का नाम सुनते ही एक बार चौंक जाती है। क्योंकि '**द्वितीयाद् वै भयं भवति**' श्रुति के अनुसार जहाँ भेद रहेगा वहाँ भय अवश्य ही रहेगा।

समस्त शब्दराशि का दो भागों में विभाजन

हमारे महर्षियों ने समस्त शब्दराशि को दो भागों में विभक्त किया है। उनमें से एक है '**आगम शब्दराशि**' और दूसरा है '**निगम शब्दराशि**'। क्योंकि नित्य शब्दब्रह्म, इन्हीं दो भागों में विभक्त है।

चतुर्दश भुवनों के साथ द्विविध वाक् का संबन्ध

यद्यपि '**अथो वागेवेदं सर्वम्**' (ऐ. आ. ३।१।६), तथा '**वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता**' (तै. ब्रा. २।८।८।४।५) इत्यादि श्रौतसिद्धान्तों के अनुसार 'वाक्तत्त्व' से प्रादुर्भूत होनेवाले शब्द-प्रपञ्च से कोई भी स्थान खाली नहीं है। तथापि 'स्तम्बरूप' तमोविशालसर्ग, 'कृमि-कीट-पशु-पक्षि-मनुष्य-भेदभिन्न'-पञ्चविध रजोविशालसर्ग, तथा यक्ष-राक्षस-पिशाच-गन्धर्व-पित्र्य-ऐन्द्र-प्राजापत्य-ब्राह्मभेदभिन्न अष्टविध सत्त्वविशालसर्ग नाम से प्रसिद्ध १४ प्रकार के भूतसर्ग के साथ मुख्यरूप से 'अग्निवाक् और इन्द्रवाक्' का ही संबन्ध है। '**यथाऽग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी**' (शतपथ १४।९।७।२०) के अनुसार 'पृथिवी' अग्निमयी है, द्युलोक से उपलक्षित 'सूर्य' इन्द्रमय है। उक्त दोनों लोकों के अतिरिक्त तीसरा 'भुवर्लोक' अर्थात् अन्तरिक्ष लोक भी है। भूः (पृथिवी), भुवः (अन्तरिक्ष), स्वः (द्यौः-सूर्य) इन तीनों लोकों से प्रजा का निर्माण होता है।

तीनों लोक वाङ्मय हैं

पृथिवी में अग्नि की सत्ता है, उस से मनुष्य प्रजा का संबन्ध है। अत एव पृथिवी को 'मनुष्यलोक' कहा जाता है।

अन्तरिक्ष में चन्द्रमा की सत्ता है, उससे पितर प्रजा का संम्बन्ध है। इसी आधार पर 'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति' – (सि. शिरो.) कहा गया है। इस दूसरे लोक को 'पितृलोक' कहा जाता है। अब तीसरा द्युलोक है, इसमें सूर्य की सत्ता है, इस से देवप्रजा का संबन्ध है। इसी आधार पर 'चित्रं देवानामुदगात्' कहा गया है। यही देवलोक है। ये तीनों ही लोक – 'वागिति पृथिवी (जै. उप. ४।२२।११), 'वाग् घ चन्द्रमा भूत्वोपरिष्टात्तस्थौ' (शतपथ ८।१।२।७), 'सा या सा वाक् असौ स आदित्यः' (शतपथ १०।५।१।४) के अनुसार वाङमय हैं।

पार्थिव और सौर वाक् की प्रधानता

तथापि प्रधानता पृथिवी और सूर्यवाक् की ही मानी जाती है। क्योंकि पार्थिव एवं सौर अग्नि अन्नाद हैं। मध्यपतित चान्द्र सोम 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः' (शतपथ १।६।४।५) के अनुसार उक्त अग्नियों का अन्न बताया गया है। अन्न जब अन्नाद के पेट में चला जाता है, तब केवल अन्नाद की ही सत्ता शेष रहती है। अन्न की स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो जाती है। भगवती श्रुति कहती है 'द्वयं वा इदमत्ता चैवाद्यंच। तद्यदोभयं समागच्छति अत्तैवाख्यायते नाद्यम्। स वै यः सोऽत्ताग्निरेव सः' (शत. पथ १०।६।३।१)। अत एव त्रैलोक्य के लिये 'द्यावा पृथिवी' शब्द का ही व्यवहार होता है। इस रीति से मुख्यतया पृथिवी लोक और सूर्य लोक दो ही रह जाते हैं। दोनों अग्निमय हैं।पार्थिवा अग्नि को गायत्राग्नि और सौर अग्नि को सावित्राग्नि कहा गया है। 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' (शतपथ १०।५।१।१) के अनुसार दोनों ही अग्नियों को 'वाक्' कहा जाता है। वैदिकों की परिभाषा के अनुसार पृथिवी की वाक् अनुष्टुप् कहलाती है और सूर्य की वाक् बृहती कहलाती है। अनुष्टुप्

वाक् से क च ट त प आदि **वर्णवाक्** का प्रादुर्भाव होता है, और बृहती वाक् से अ आ इ आदि **स्वरवाक्** का प्रादुर्भाव होता है, अर्थात् वर्णवाक् अनुष्टुप् है और स्वरवाक् बृहती है।

क्षर वर्णों की प्रतिष्ठा अक्षर स्वरतत्त्व के कारण ही है

'स्वरोऽक्षरम्' इस प्रातिशाख्य के अनुसार 'स्वर' अक्षर है, वह अविनाशी है। और वर्ण क्षर है, वह विनाशी है। अर्थसृष्टि में भौतिक क्षरकूट की प्रतिष्ठा अक्षर तत्त्व जैसी ही है। क्योंकि **'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माऽधिगच्छति'** के अनुसार अर्थब्रह्म की समानधारा में प्रवाहित होनेवाले शब्दब्रह्म में भी क्षररूप वर्ण की प्रतिष्ठा अक्षररूप स्वरतत्त्व के कारण ही है। अर्थब्रह्म में जैसे अक्षररूप सूर्यसत्ता को छोडकर क्षररूपा पृथिवी स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रह सकती, उसी तरह सूर्यवाङमूलक स्वरतत्त्व के बिना पृथिवीमूलिका वर्णराशि भी स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रह सकती। बिना स्वर के सहारे हम व्यञ्जन का उच्चारण कर ही नहीं सकते।

स्वरमूलक सूर्यविद्या ही त्रयीविद्या है और वही निगम विद्या है।

स्वरमूलक इस सूर्यविद्या का ही नाम त्रयीविद्या है। सूर्यबिम्ब ऋग्वेद है। सूर्य का रश्मिमण्डल ही सामवेद है, और सूर्य में रहनेवाला अग्निपुरुष यजुर्वेद है। मण्डल ब्राह्मण में कहा गया है **'यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थंता ऋचः स ऋचां लोकोऽथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि स साम्नाँल्लोकोऽथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः सोऽग्निस्तानि यजूंषि स यजुषाल्लोकः'**। सूर्य क्या

तप रहा है, त्रयीविद्या तप रही है–'सैषा त्रय्येव विद्या तपति'–(शतपथ १०।५।२।२)। 'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः' का भी यही रहस्य है। यह वेदतत्त्व नित्य तत्त्व है। स्वयं प्रादुर्भूत है। ब्रह्म के मुख से स्वयं निर्गत हुआ है। अतएव ऋषियों ने इसे 'निगम' संज्ञा दी है। इस निर्गत को ही परोक्षभाव से 'निगम' शब्द से कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि त्रयीविद्या के नाम से प्रसिद्ध सूर्यविद्या का नाम ही 'निगम विद्या' है।

पृथिवीविद्या ही आगमविद्या है

दूसरी 'आगमविद्या' है। शनि, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, पृथिवी आदि सूर्य के उपग्रह हैं। सूर्य का ही प्रवर्ग्यभाग (अलग से निकला हुआ भाग) शनि आदि के रूपों में परिणत होकर सूर्य के चारों ओर घूम रहा है। पृथिवीविद्या सूर्यविद्या से आयी है, इसी रहस्य को समझाने के लिये ऋषियों ने 'पृथिवी विद्या' का नाम आगम रखा है। सूर्यविद्या की तरह पृथिवीविद्या स्वयं निर्गत नहीं है। अपितु निगम से आयी हुई है। अतएव 'निगमात् आगतः' इस व्युत्पत्ति से पृथिवीविद्या 'आगम' के नाम से प्रसिद्ध हुई है।

निगमविद्या में स्वर की प्रधानता और आगमविद्या में वर्णों की प्रधानता

पृथिवी की 'वाक्' वर्णवाक् है, वह स्वर से भिन्न है। इसीलिये आगमशास्त्रोक्त प्रयोगों का उदात्तादि स्वरों से विशेष संबन्ध नहीं माना जाता। वहां केवल शब्द की आवृत्ति (जप) से ही सिद्धि हो जाती है। परन्तु निगम विद्या (वेदविद्या) में यह बात नहीं है। वहाँ स्वरवाक् की प्रधानता है। अतएव निगमोक्त प्रयोगों में उदात्त-अनुदात्तादि स्वरों पर पूरा ध्यान रखना होता है। 'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥' के अनुसार बिना स्वर के निगमकाण्ड निरर्थक है, अनिष्टकर है। क्योंकि स्वरवाक् ही उसका मूल है। सूर्यविद्या निगम विद्या है। और पृथिवीविद्या आगम विद्या है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि निगमविद्या में केवल सूर्य का ही निरूपण है और आगमविद्या में केवल पृथिवी का ही निरूपण है, अपितु दोनों में संपूर्ण विश्व का निरूपण है। केवल लक्ष्यभेद मात्र है। निगमशास्त्र सूर्य को प्रधान मानकर संपूर्ण विश्व का निरूपण करता है, एवं आगमशास्त्र पृथिवी को मूल मानकर आगे चलता है। **'द्यौष्पितः पृथिवि मातः'**– (ऋ. ४।८।११) के अनुसार द्युलोकोपलक्षित सूर्य पिता है और पृथिवी माता है। पिता पुरुष है, माता प्रकृति है। पुरुष; रेतोधा है, प्रकृति योनि है।

निगम विद्या में आगम विद्या का साम्राज्य

पुरुषशास्त्र निगम है। अतएव निगम को वेदपुरुष कहा जाता है। प्रकृतिशास्त्र आगम है। अतएव आगम को आगम विद्या कहा जाता है। बिना आगम के निगम की प्रतिष्ठा नहीं। निगम में भी आगम का साम्राज्य है। अतएव पुरुषवेद को वेदविद्या भी कहा जाता है। सूर्य साक्षात् रुद्र है, एवं सूर्य की अनंत रश्मियां अनंत रुद्र हैं। अनन्तरुद्र विट्रुद्र (प्रजारुद्र) है। सूर्यरुद्र क्षत्ररुद्र है। रश्मिगत त्रैलोक्यव्यापक अनन्तरुद्रों का – **'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः'**, **'ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः'** इत्यादि रूप से निरूपण किया गया है। और एकाकी क्षत्ररुद्र का निरुपण **'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः'** (श्वेताश्वतर ३।२) इस प्रकार से किया गया है। **'अग्निर्वा रुद्रः तस्यैते द्वौ तन्वे घोरान्या च शिवान्या च'** के अनुसार इस रुद्ररूप सौर अग्नि के घोर और शिव भेद से दो शरीर हैं। सभी लोग अपने अध्यात्म-जगत् में दोनों मूर्तियों का साक्षात्कार कर सकते हैं। अग्नि को

अन्नाद कहा गया है। अन्न का भक्षण करना अग्नि का स्वाभाविक धर्म है। अग्नि प्रज्वलित हो रहा है। जब तक उसमें काष्ठान्न देते रहेंगे तभी तक वह स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित रहेगा। अग्नि का प्रज्वलन (इंधन) काष्ठाहुति पर निर्भर है। अतएव काष्ठ को इन्धन कहा जाता है। वही अवस्था शारीराग्नि की है। लोम, केश, नखों के अग्रभाग को छोड़कर संपूर्ण शरीर में वैश्वानर अग्नि धधक रहा है। जहां स्पर्श करते हैं वहीं ऊष्मा पाते हैं। यही उस अग्नि का प्रत्यक्ष दर्शन है। नाक, कान बन्द कर लेनेपर जो नाद सुनाई पड़ता है, वही उसकी श्रुति है। इस अन्नाद अग्नि की सत्ता के लिये सायं-प्रातः अन्न खाना पड़ता है। जब तक इस अन्नाद में अन्न की आहुति रहती है तब तक शरीर स्वस्थ रहता है। क्योंकि 'अन्न' सोमतत्त्व है। 'सोम' शान्ततत्त्व है। उसकी आहुति से रुद्राग्नि शान्त होता हुआ शिव बन जाता है। यदि अन्नाहुति बन्द कर दी जाती है तो वह रुद्र घोररूप में परिणत होकर प्रथमतः रस, असृक्, मांस, मेद आदि शारीर धातुओं को खाने लगता है और उसके समाप्त होनेपर स्वयं भी उत्क्रान्त हो जाता है। निष्कर्ष यही है कि अन्नाहुति से रुद्रतनु शिवभाव में परिणत होकर पालन करती है। एवं अन्नाभाव में वही घोर तनु बनकर नाश का कारण बनती है। हम जो प्रतिदिन अन्न खाते हैं, उससे उग्ररुद्र शान्त होते हैं। अतएव वैदिक लोग इस अन्न को 'शान्तदेवत्य' या शान्तरुद्रिय' कहते हैं। परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्ष भाषा में वह शान्तरुद्रिय अन्न 'शतरुद्रिय' नाम से प्रसिद्ध है। इसी अभिप्राय से योगीश्वर याज्ञवल्क्य कहते हैं–'अत्रैष सर्वोग्निः संस्कृतः। स एषोऽत्र रुद्रो देवता। स दीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानः। तस्माद् देवा अबिभयुः। यद्वैनोऽयं न हिंस्यात्' इति। 'तस्मै एनदन्नं समभरत् शान्तदेवत्यम्। तेनैनमशमयन्। शान्तदेवत्यं ह वै शतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः।'–(शतपथ ९।१।१।१)। माता के गर्भाशय में अग्नि की क्रमिक चिति से क्रमशः प्रवृद्ध होनेवाला गर्भ नौ मास के अनन्तर जब पूर्णभाव

को प्राप्त हो जाता है तो सर्वात्मना संस्कृत हुए रुद्राग्नि के आघात से या मारुत की प्रेरणा से वह गर्भ गर्भाशय से जननेन्द्रिय के द्वारा बाहर निकल पड़ता है। उस समय सारे इन्द्रिय देवता डरने लगते हैं। अपनी रक्षा के लिये वे उसमें अन्नाहुति डालते हैं। अन्न के आहुत होते ही रुद्राग्नि के संताप से रोता हुआ शिशु चुप हो जाता है। इस प्रकार वही रुद्राग्नि, अन्नसम्बन्ध से 'शिव' बनकर संसार की रक्षा करते हैं। अन्नाभाव में वही नाश के कारण बनते हैं। ये ही दोनों भाव सूर्य में भी हैं। सूर्य साक्षात् रुद्र है। प्राणियों को सन्तप्त करनेवाला है, परन्तु पार्थिव औषधि, वनस्पत्यादि अन्न इसमें निरन्तर आहुत होते रहते हैं। पार्थिव रस को सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा लिया करता है। इस कारण वह शिव बना रहता है। पृथिवी माता है, शक्ति है और सूर्य पिता है, शिव है। परन्तु इस शिव का शिवत्व, शक्तिसमन्वय पर ही निर्भर है। जिस दिन पार्थिवान्न-सम्बन्ध हट जायगा, सूर्य-रुद्र, घोर रूप में परिणत होकर संपूर्ण विश्व को भस्मसात् कर देगा।

सौर तेज हिरण्मय है। इसकी सत्ता सोम (अन्न) पर निर्भर है। इसमें प्रविष्ट महदक्षररूपा चित्शक्ति ही हैमवती उमा है। श्रीमद्वल्लभाचार्य इसे ही 'भगवच्छक्ति' कहते हैं। यही अद्वैत-वादियों की माया है। उपासकों की 'राधा' है। श्रीरामानुजा-चार्य की 'लक्ष्मी' है और वैदिकों की हैमवती 'उमा' है।

'मम योनिर्महद् ब्रह्म' के अनुसार पारमेष्ठ्य सोम ही चिदात्मा अव्ययपुरुष की प्रतिष्ठा है। वह सोम, सौरमण्डल में आकर हैमवती चिच्छक्ति से युक्त हो जाता है। अतएव 'उमासहित-स्तत्त्वः' के अनुसार वह पारमेष्ठ्य तत्त्व 'सोम' कहलाने लगता है। इसी उमा को ब्राह्मण ग्रन्थों में अम्बिका, अम्बा, माता आदि नामों से बताया गया है।

ब्रह्मज्ञान की निर्भरता शक्तिज्ञान पर ही है

सौर इन्द्र 'शिव' है। उसकी शक्ति पार्थिव सोमरूपा हैमवती उमा है। 'सोम' स्व-स्वरूप से कृष्ण है, परन्तु सौरमण्डल में आकर अग्नि के प्रकाश से वह चमकीला बन जाता है। सूर्य में जो प्रकाश दीखता है, वह उसी सोमाहुति का प्रभाव है। इसी आधार पर 'त्वं ज्योतिषा वितमोववर्थ'–(ऋ. १।९१।२२) कहा गया है। 'त्वमा ततन्थेर्वान्तरिक्षम्'–(ऋ. १।९१।२२) के अनुसार वह सोम विशाल आकाश में सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। यह सोममयी शक्ति उसी चिद्घन अव्यय पुरुष की प्रकृति है। इन्द्रादि देवताओं को उस अव्ययपुरुष चिद्घन ब्रह्म का ज्ञान, आकाशस्थ इसी महामाया जगदम्बा की कृपा से होता है। शक्ति को आगे किये बिना ब्रह्मज्ञान असंभव है। शक्तिविज्ञान को लक्ष्य करके ही श्रुति कहती है– 'स तस्मिन्नेव आकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्। तां होवाच किमेतद् यक्षमिति। सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति। ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति।'–(के. उ. ३।१२; ४।१)। उपनिषद्विद्या का सारभूत गीताशास्त्र भी ब्रह्मज्ञान के लिये शक्ति की आराधना को ही प्रधान बतलाता है– 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'– (गी. ७।१४) इससे स्पष्ट ही शक्तिवाद की प्रधानता सिद्ध है। युद्ध के समय विजयप्राप्त्यर्थ भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश से अर्जुन शक्ति की आराधना करता है (भीष्मपर्व)। यह है शिव-शक्ति का मौलिक रहस्य।

आगम के सिद्धान्त निगम के सिद्धान्तों पर ही प्रतिष्ठित हैं

सौर प्राण की प्रधानता से पुरुषसृष्टि होती है। चन्द्र-सोम गर्भित पार्थिवप्राण की प्रधानता से स्त्रीसृष्टि होती है। संपूर्ण स्त्रियां शक्तिरूपा हैं। संपूर्ण पुरुष शिवरूप हैं। सारा विश्व शिव-शक्तिमय है, दोनों अविनाभूत हैं। चूंकि आगमशास्त्र, माता

पृथिवी से संबन्ध रखता है। अतएव उसमें शक्ति की ही प्रधानता है। 'आगम' का आगमन 'निगम' से हुआ है। यही कारण है कि आगम के सारे सिद्धान्त निगम के सिद्धान्तों पर ही प्रतिष्ठित हैं। जैसे निगमशास्त्र के निगमाचार्यों ने **'सैषा त्रयी विद्या'** कहकर उसके लिये 'विद्या' शब्द का प्रयोग किया है, उसी तरह आगमाचार्यों ने **'विद्यासि सा भगवती'** कहकर आगम के लिये भी 'विद्या' शब्द का प्रयोग किया है।

योगियों के मार्ग को ही वाममार्ग कहते हैं

किन्तु **'कालस्य कुटिला गतिः'** के अनुसार तन्त्र शास्त्र से अनभिज्ञ आजकल की जनता में एक भ्रम फैला हुआ है कि तंत्र में वाममार्ग है और वाममार्ग में भैरवीचक्र तथा 'पंच मकारों' की प्रधानता है। किन्तु 'वाम' शब्द के श्रवणमात्र से भयभीत नहीं होना चाहिये। उसके वास्तविक अर्थ को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। 'वाम' शब्द का प्रयोग निगम (वेद) में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। ऋग्विधान में कहा गया है कि **'अस्य वामस्य सूक्तं तु जपेच्चान्यत्र वा जले। ब्रह्महत्यादिकं दग्ध्वा विष्णुलोकं स गच्छति'**॥ इस वामसूक्त के पाठमात्र से ही विष्णु लोक की प्राप्ति अर्थात् **'तद् विष्णोः परमं पदम्'** के अनुसार विष्णुपदप्राप्तिरूप मोक्ष मिलता है। निरुक्त में 'वाम' शब्द का अर्थ 'प्रशस्य' लिखा है। जैसे – **'अस्रेमाः अनेमाः अनेद्यः अनवद्यः अनभिशस्ताः उक्थ्यः सुनीथः पाकः वामः वयुनमिति दश प्रशस्यनामानि।'** इस निरुक्त के अनुसार 'वाम' का अर्थ 'प्रशस्य' है। 'प्रशस्य' प्रज्ञावान् ही होते हैं। दुर्गाचार्य ने कहा है कि **'य एव हि प्रज्ञावन्तस्त एव हि प्रशस्या भवन्ति'**। इससे सिद्ध होता है कि प्रज्ञावान् प्रशस्य जितेन्द्रिय योगी का ही दूसरा नाम 'वाम' है और उस योगी के मार्ग का ही नाम 'वाममार्ग' है। तन्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिव हैं। वे कहते हैं – **'वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'** अर्थात् वाममार्ग अति

कठिन है। जब योगियों के लिये भी वह अगम्य है तो फिर वह इन्द्रियलोलुप जनता के लिये कैसे गम्य हो सकता है। भगवान् शिव कहते हैं कि **'लोलुपो नरकं व्रजेत्'** – विषयलोलुप वाममार्गी नरकगामी होता है। क्योंकि वाममार्ग जितेन्द्रिय के लिये है, और जितेन्द्रिय ही योगी होते हैं। इस प्रकार वाममार्ग के अधिकारी के लक्षण सुनने से ही स्पष्ट होता है कि वाममार्ग जितेन्द्रिय योगी पुरुषों का है। विषयलोलुप लोगों का इस में अधिकार नहीं है। मेरुतन्त्र में बताया गया है कि **'परद्रव्येषु योऽधश्च परस्त्रीषु नपुंसकः। परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः॥ तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता॥'** अर्थात् परद्रव्य, परदारा तथा परापवाद से विमुख संयमी ब्राह्मण ही वाममार्ग का अधिकारी होता है, तथा **'अयं सर्वोत्तमो धर्मः शिवोक्तः सर्वसिद्धिदः। जितेन्द्रियस्य सुलभो नान्यस्यानन्तजन्मभिः'** (पुरश्चर्यार्णव)। अर्थात् शिवोक्त सर्वसिद्धियों को देनेवाला वाममार्ग जितेन्द्रिय योगी के लिये ही सुलभ है।

वाम मार्ग के अधिकारी

लोलुप के लिये तो अनन्तजन्मों में भी वह सुलभ नहीं हो सकता। तथा-- **तन्त्राणामतिगूढत्वात् तद्भावोऽप्यतिगोपितः। ब्राह्मणो वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिमान् वशी॥ गूढतन्त्रार्थ भावस्य निर्मथ्योद्धरणे क्षमः। वाममार्गेऽधिकारी स्यादितरो दुःखभाग् भवेत्॥** (भावचूडामणि)। अर्थात् तन्त्रों के अतिगूढ होने के कारण उनका भाव भी अत्यन्त गुप्त है। इसलिये वेदशास्त्रों के गंभीर अर्थतत्त्व को जाननेवाले बुद्धिमान् जितेन्द्रिय श्रीअभिनव गुप्तपाद, श्रीभास्कर-राय, दतिया के श्रीस्वामीजी महाराज, श्रीकरपात्रस्वामीजी महाराज जैसे पुरुष ही गूढतन्त्रार्थ के भाव का मन्थन करके उद्धार करने में समर्थ हैं। वे ही वाममार्ग के अधिकारी हो सकते हैं। इसके विपरीत यदि कोई दांभिक विषयासक्त व्यक्ति इसमें अनधिकार चेष्टा करे तो वह दुःख का ही भागी होता है।

निगम तथा आगम दोनों में चक्रों का वर्णन

इसी तरह भैरवीचक्र के सम्बन्ध में भी समझ में आता है कि तंत्र में एक भैरवीचक्र का ही नहीं किन्तु श्रीचक्र, आज्ञाचक्र,शिवचक्र, विष्णुचक्र आदि नाना प्रकार के चक्रों का वर्णन आता है और इनका वर्णन उपनिषदों में भी आता है। भावोपनिषद, त्रिपुर-तापिनी, नृसिंहतापिनी आदि उपनिषदों में चक्रों की महिमा बहुत गायी गयी है। जैसे - **'देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन् महाचक्रनामकं नो ब्रूहीति सार्वकामिकं सर्वाराध्यं सर्वरूपं विश्वतोमुखं मोक्षद्वारम् ।'** (नृसिंह तापिनी)। **'तदेतन्महाचक्रं बालो वा युवा वा वेद स महान् भवति स गुरुर्भवति ।'**- (नृसिंह तापिनी)। यह महाचक्र ऋषि मुनि देवता आदि के द्वारा आराधित, सभी इच्छाओं का पूरक, सर्वरूप, स्वर्ग एवं मोक्ष का द्वार है। उस चक्र को जो बालक या युवा भी जानता है, वह महान् गुरु हो जाता है। ऋग्वेद में भी कहा है कि- 'पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा' अर्थात् पाँच कोणवाले चक्र में समस्त भुवन स्थित हैं। इस तरह के चक्रों के अनेक प्रमाण वेदोपनिषदों में उपलब्ध होते हैं।

वामाचार के प्रति जनापवाद

पंच मकारों को लेकर जनता में वामाचार के प्रति जो घृणित भावना जागरूक है, उसमें बौद्धों का वज्रयानमार्ग ही निमित्त है। क्योंकि उसी मार्ग में मद्य-मांस-मीन-मुद्रा और मैथुन आदि पंच मकारों का प्रयोग प्राकृत लोगों की तरह किया जाता है। आज के कतिपय दांभिक लोग अपने को तांत्रिक कहलाकर अपनी वासना के अनुरूप उस वज्रयानमार्गोक्त पंच मकारों का सेवन करने में तत्पर हो गये।

वास्तविक वामाचार आत्मकल्याण का साधक है

हमारे भारतीय भैरवयामलादि अनेक तन्त्रग्रन्थों में पञ्च मकारों के वास्तविक अर्थ को स्पष्टतया बताया है, जो आध्यात्मिक होने से आत्मकल्याण का साधक बनता है। इस मार्ग को 'वाम' कहने का तात्पर्य इतना ही है कि वैदिकमार्ग अर्थात् निगमोक्त मार्ग 'दक्षिण' होने से तदितर मार्ग को 'वाम' कहना स्वाभाविक ही है। 'अगम्यागमनञ्चैव धूर्तमुन्मत्तवञ्चकम्। अनृतं पापगोष्ठीं च वर्जयेत् कौलिकोत्तमः॥' यह स्पष्ट रूप से कहा गया है।

निगम और आगम दोनों के सिद्धान्तों की एकता

एवं च निगम (वेद) के अद्वैत-सिद्धान्तानुसार एक ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। अखिल ब्रह्माण्ड की स्थिति-संहारकारिणी विश्वेश्वरी–महामाया प्रकृति पराशक्ति भी उस एक परब्रह्म का पृथक् नाम मात्र ही है। उसकी महिमा को प्रकट करनेवाले ये सब नाम उसी के हैं। यह पराशक्ति दिव्यरूपा है। वह 'निःशेषदेव-गणशक्तिसमूहमूर्त्या'– समस्त देवगणों की शक्तियों के समूह की मूर्ति है। वही महाविद्यारूप से जीव को ब्रह्मज्ञान प्राप्त कराकर मोक्ष दिलाती है, और वही अविद्यारूप से उसको सांसारिक बन्धनों में फँसाती है। वही सब कुछ करती है। भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' अर्थात् मेरे अधिष्ठान में प्रकृति ही सब कुछ करती है। जिस प्रकार एक स्वर्णकार बिना स्वर्ण के कटककुण्डलादि आभूषण के निर्माण करने में असमर्थ है, उसी प्रकार बिना प्रकृति–शक्ति के परमेश्वर का ऐश्वर्य सृष्टि के कार्य में असमर्थ है। परमेश्वर ने इस बात को स्वयं स्वीकार किया है--

ईश्वरोऽहं महादेवि केवलं शक्तियोगतः ।
शक्ति बिना महेशानि सदाऽहं शवरूपकः ।।
शक्तियुक्तो सदा देवि शिवोऽहं सर्वकामदः ।

केवल शक्ति के योग से ही मैं ईश्वर हूँ। शक्ति के बिना मैं शवरूप हूँ। जब शक्तियुक्त होता हूँ, तभी सर्वकामप्रद कल्याणकारी शिव मैं होता हूं। अतः निगम और आगम का समन्वय उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। दोनों में कोई विरोध नहीं है। अधिकारियों की भिन्नता को ध्यान में रखकर उक्त दो मार्गों का आविर्भाव हुआ है। विषय इतना गहन है कि उसका जितना विस्तार किया जाय उतना थोडा ही प्रतीत होगा। तथापि उक्त विवेचन से किञ्चिन्मात्र प्रकाश के मिलने की आशा हो सकती है।



निगम और आगम का समन्वयात्मक सिद्धान्त

लेखक – चक्रवर्ती श्री रामाधीन चतुर्वेदी
प्राध्यापक, व्याकरण विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय,
(वाराणसी)

भारतीय वाङ्मय का मूल ग्रन्थ निगम अर्थात् वेद है, जो कि विश्व का पहला ज्ञान-ग्रन्थ है। भारत के मनीषियों ने इसे परमात्मा का निःश्वास बताया है। निःश्वास की गति स्वाभाविक है। जिस प्रकार प्रयत्न के बिना ही प्राणियों के जागते-सोते रहने पर भी श्वास चलता रहता है, उसी प्रकार ज्ञानात्मक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद भी परमात्मा से सहजरूप में निःश्वसित हुआ है, अतः इसे अपौरुषेय कहा जाता है। वेद का पर्यायवाची ही निगम शब्द है। वेद को निगम कहने का तात्पर्य यह है कि मूलरूप से वेद के द्वारा ही वस्तुतत्त्व का निगमन होता है, पदार्थों का प्रामाण्य वेद के निर्वचन पर ही निर्भर है। जगत् के मूलतत्त्व की मीमांसा तथा उस मूलतत्त्व से जगत् कैसे बना, मूलतत्त्व से जगत् भिन्न है या दोनों एक हैं, जगत् की सत्ता है या नहीं इत्यादि बातों का निगमन जिससे हो, वही निगम है, और निगम ज्ञान का आगमन अर्थात् अनुभूति जिससे हो वही आगम है। निगम और आगम ये दोनों शब्द भी एक ही मूलप्रकृति से निष्पन्न होते हैं, केवल उपसर्ग के भेद से अर्थ में थोड़ा भेद होता है। किन्तु उस भेद से दोनों के सिद्धान्त में भेद नहीं होता, क्योंकि निगम के द्वारा ज्ञात वस्तु की जब तक अनुभूति नहीं होती, तब तक वह ज्ञान अधूरा ही रहता है। इसलिए निगम और आगम के ज्ञान से ही मूलतत्त्व का अनुभवात्मक ज्ञान संपन्न होता है। निगम यदि जेठा भाई है, तो आगम उसका सहोदर अनुज है।

वस्तुत: निगम और आगम का लक्ष्य भी एक ही है। निगम का ब्रह्मतत्त्व ही आगम की चिति है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति,' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि निगम सिद्धान्त को ही आगम भी 'चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु:' के रूप में व्यक्त करता है। जिस प्रकार निगम ब्रह्म को जगत् रूप में विवर्त होने के लिये कामना या इच्छा के रूप में ब्रह्म की एक अभिन्न शक्ति स्वीकार करता है, उससे ही जगत् का विकास और संकोच होता रहता है। उसी प्रकार चिति भी स्वतन्त्रात्मक है। चिति की इच्छा ही उसकी स्वतन्त्रता है। आगम के स्वतन्त्रात्मक चिति-शक्ति से ही यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है। अत: जहाँ निगम का उद्घोष प्रस्तुत है कि–'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्', वहीं आगम भी निगम का अनुगमन रूप समर्थन करते हुए कहता है कि–'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममाऽपरा' अर्थात् ज्ञानात्मिका शक्ति के अलावा संसार में दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। उसी ब्रह्म या ज्ञानरूप दर्पण में संसार भासित हो रहा है। यहां निगम और आगम दोनों का सिद्धान्त एक ही है।

दूसरी बात यह है कि निगम में जिस प्रकार कर्म और ज्ञान का प्रतिपादन हुआ है, उसी प्रकार आगम में ये दोनों पद्धतियाँ प्रचलित हैं। आगम की पद्धति में वाम-मार्ग का भी प्रचलन बाद में हो गया है वह निगमविरुद्ध है, अत: निगमानुकूल आगम का ही समन्वय सिद्धान्त रूप में संमत माना जाता है।

निगम और आगम के सैद्धान्तिक समन्वय से ही मनुष्य को भुक्ति और मुक्ति की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार ज्ञानयोग के बिना कर्मयोग और कर्मयोग के बिना ज्ञानयोग की पूर्ण सफलता सुगम नहीं है, जैसा कि भगवान् ने गीता में कहा है —

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ (३।४)

और साथ ही यह भी कहा है, कि—

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ (५।५)

इसी प्रकार निगम और आगम की साधना पद्धति में भेद होते हुए भी दोनों का प्राप्तव्य लक्ष्य एक ही है, तथा दोनों के समन्वयात्मक सिद्धान्तज्ञान से ही मनुष्य जीवन की पूर्ण सार्थकता संपन्न होती है।



शाक्त-साधना का संक्षिप्त इतिहास

लेखक– डॉ० कृष्णकान्त चतुर्वेदी
आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत-पाली-प्राकृत विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

(१) वेदों में शक्तिरूप एवं साधनायें–

"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" के अनुसार धर्म के समान ही साधना का मूल भी वेदों में मिलता है। शाक्तागम स्वयं के मूल वेद के निन्दकों के उद्धार की चिन्ता करता है।[1] एवं इतिहास-क्रम में बाह्यपूजासाधना तथा अन्तःपूजासाधना की चर्चा करता है। बाह्य साधना के परिचय में "वेद प्रधान साधना" का उल्लेख करता है[2]। वैदिकी अर्चा का अधिकार सर्वसाधारण को नहीं है। वैदिकी दीक्षा से संपन्न व्यक्तियों को ही वैदिकी अर्चा का अधिकारी कहा गया है।

दीक्षा :

संस्कारसम्पन्न द्विजाति की गायत्रीदीक्षा वैदिकी दीक्षा

---

१. ...वेदविनिन्दकाश्च। हिंसारता नास्तिकमार्गसक्ताः न वा ह यज्ञेन पुनन्ति ते कलौ॥ स्कन्दपुराण, मानसोत्तर खण्ड, देवी भागवत माहात्म्य (२।३३)

२. ... बाह्याऽपि द्विविधा प्रोक्ता वैदिकी तान्त्रिकी तथा ...(३)
वैदिक्यर्चाऽपि द्विविधा मूर्तिभेदेन भूधर।
वैदिकी वैदिकैः कार्या वेददीक्षासमन्वितैः॥ (४।३९।७) देवीभागवत

है। वेदतन्त्र के ज्ञाता पापक्षयपूर्वक दिव्य ज्ञान देने वाली साधना को दीक्षा कहते हैं।[3]

दीक्षा में गुरु एवं शिष्य स्वयं प्रथम साधन हैं और दीक्षा साध्य है। याग भूमिका 'अस्त्राय फट्' मन्त्र से शुद्ध करना पश्चात् गणपति-पूजन पूर्वक श्रीपूजन, सरस्वतीपूजन एवं द्वारपूजन करना माना गया है। विघ्नोत्सारण के साथ घटस्थापन, अर्घस्थापन, अर्घ के जल से नैऋत्य दिशा में वास्तुनाथ एवं प्रजापति का पूजन करना आदि दीक्षाक्रम है।

अपने शरीर (कोख) में दाहिनी ओर धर्म को एवं बाईं ओर अधर्म को विचारें। ज्ञान को वाम शरीर, वाम भाग तथा बाईं जंघा पर वैराग्य को एवं ऐश्वर्य को मुख में चिन्तन करना चाहिये। साधक स्वयं को प्रकृतिमय विचारे। सांख्य शास्त्र के विद्वानों के अनुसार[4] ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य, धर्म एवं अज्ञान, अविराग, अनैश्वर्य तथा अधर्मरूपा प्रकृति होती है। धर्मादि चार से साधक गति का सामर्थ्य प्राप्त करता है एवं साधक का स्थूल शरीर अधर्मादि से बनता है। असाधारण भी दीक्षा क्रम, सर्व साधारण के शरीर रचना का तथा देहान्तर प्राप्ति के कारण धर्मादि के महत्त्व को दुहराता है। दीक्षा क्रम एक विशेष शुद्धिपूर्वक अतिरिक्त शक्ति के प्राप्ति रहस्य को बताता है। शरीर में जो कुछ है, विचारों से उसकी शुद्धि करना एवं पुनः विचारों (ध्यान) से शक्ति का समावेश करना दीक्षा में विशिष्ट साधना है। शक्ति शरीरस्थ स्पन्दन है। स्पन्दन को तीव्र करना तथा यथेच्छ प्रसारित करना दीक्षा के मध्यकाल का फल है।

---

३. दिव्यं ज्ञानं हि या दद्यात् कुर्यात् पापक्षयं तु या।
सैव दीक्षेति संप्रोक्ता वेदतन्त्रविशारदैः॥ देवीभागवत। (५।७।१२)

४. ज्ञानं विरागमैश्वर्यम्। सांख्यकारिका। (२३)

देवी भागवत का दीक्षा क्रम हृदय में अनन्त की स्थापना का आदेश करता है। अनन्त विष्णु एवं नागविशेष का नाम है, शरीर में वायु ही अनन्त नाग है। यही शक्ति का प्रतीक है। दीक्षा में अग्रसर साधक हृदय की गति पर ध्यान करने से इसे जान जाता है। उपनिषद् शास्त्र में हृदय को एक और सौ नाड़ियों का स्थान बताया गया है[५]। सौ नाड़ियाँ पुनः पुनः जन्म एवं मरण रूप दुःख को उत्पन्न करती हैं। एक नाड़ी सुषुम्ना ऊपर की ओर मस्तिष्क द्वारा गति करती है। साधक सुषुम्ना द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है। सुषुम्ना में चेतन को विचारना 'अनन्तमाया' का पूजन है। दीक्षा में इसका सर्वातिशायी महत्त्व है।

पुनश्च उक्तगुणविशिष्ट साधक को स्थल पर १२ कलाओं से युक्त सूर्य को, १६ कलाओं से युक्त चन्द्र को तथा १० कलाओं से युक्त अग्नि को, एवं उनके ऊपर सत्त्व, रजस् एवं तमस् को विचारना चाहिए। गुणों के ऊपर शारीरात्मा को आत्मा के ऊपर अन्तरात्मा (जीवात्मा) एवं परमात्मा को समझना चाहिए। परमात्मा को ज्ञानात्मरूप समझना ध्यान क्रम की पूर्ति है[६]।

दीक्षा में अन्तःसाधन एवं बहिःसाधन, दोनों का ही महत्त्व है। बहिःसाधन में पीठस्थापन एवं उसमें शिव तथा शिवा को आवाहन करना चाहिए। ध्यान से ही परम सुंदर शिव एवं शिवा की काम–क्रीड़ा को देखना चाहिये। वस्तुतः कामेश्वर एवं कामेश्वरी के चिन्तन से ही साधक का चित्त जड़ता से मुक्त होकर दीक्षा के योग्य जोती गई भूमि या क्षेत्र बनता है। अन्तःकरण में रागशून्य आनन्द के लिये प्रथम रागमय आनन्द को अवसर देना उचित है। इसका विस्तृत रूप देवी भागवत में है।

---

५. शतं चैका हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्धानमाभि निःसृतैका,
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति ।
विष्वग् अन्याः उत्क्रमणे भवन्ति ।। कठोपनिषद् १।७।६ (२)

६. देवीभागवत् । (७।१२.)

उक्त तान्त्रिकी दीक्षा के समान ही 'गायत्री' जपमात्र स्वयं पापक्षयपूर्वक दीक्षा है। समस्त वेदों में गायत्री की उपासना को नित्योपासना माना गया है। विष्णुदीक्षा आदि को तन्त्र में अनित्य कहा गया है[7]।

गायत्री एक छन्द है। गायत्री छन्द में सूर्य के तेज का साधक आवाहन करता है। साधक तेजोमय जिस शक्ति को प्राप्त करता है उसका नाम तारकशक्ति या गायत्री है। लोक में प्रचलित भी है– 'गातारं त्रायते यस्माद् गायत्री तेन चोच्यते' अर्थात् अर्थ एवं भाव पूर्वक पुनः पुनः शब्दोच्चारण जप से साधक को उन्नत भूमिका पर स्थितिप्रापक शक्तिविशेष गायत्री है। गायत्री वेदमाता है। वेदों में इस शक्ति का तन्त्रों के समान आकारविशेष में उल्लेख नहीं है। वेद शक्ति की चर्चा तत्त्वों के आधार से करते हैं।

वैदिक शक्तिरूप :

तन्त्रों में एवं पुराणों में जो मूर्तिकरण है, वह साधना क्रम में भक्ति का प्रकार है। वेदों में तान्त्रिक शक्तिरूपों के कुछ नाम पाये जाते हैं। यथा यजुर्वेद में श्री एवं लक्ष्मी का नाम[8] जिनका संबन्ध सूर्य की शक्ति तथा सौन्दर्य से है। इसी प्रकार से अग्नि की विविध वर्णों की लपटों में जिभ्या के आरोपक्रम में 'काली' नाम[9] किन्तु लोक तथा तन्त्र में उक्त संज्ञाओं से देवता विशेष को असामान्य आकार तथा वस्त्र आभरण के साथ मानवसदृश आकार में समझकर पूजा जाता है।

---

७. गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता।
गायत्रीमात्रनिष्णातो द्विजो मोक्षमवाप्नुयात्।
कुर्यादन्यन्नवा कुर्यादिति प्राह मनुः स्वयम्॥ देवी भागवत् ८/९२

८. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहो–यजुर्वेद २२/३१

९. काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च...
मुण्डकोपनिषद ४/१

सामवेद में इन्द्रदैवत मन्त्रों में सूर्य की चर्चा है[10]। 'प्रकाश की पवित्र और पोषण शक्ति युक्त दैवी किरणें सदैव निष्पाप होती हैं' इस वैदिक कथन के अनुसार सूर्य-शक्ति रूप का परिचय मिलता है। अतः अर्थानुसार साधना को स्वयं समझना चाहिये। देवता के महत्त्व को जान कर कल्पना करना एवं आचरण में अपनाना साधना है। सूर्य के प्रकाश में बैठना तथा स्वयं को सूर्यशक्ति संपन्न होते हुये अनुभव करना वैदिकी शक्ति साधना है।

वेद में प्रत्यक्ष 'देवता शक्ति' को शरीर में पाया था। शरीर में व्यष्टि रूप से प्रस्तुत 'अग्नि शक्ति' है। अग्निशक्ति शरीर के रस धातुओं का परिपाक करती है। समस्त विश्व में समष्टि रूप अग्नि शक्ति है, समष्टि रूप अग्नि शक्ति का परिचय वैदिक काल में शारीराग्नि से किया गया था। सामवेद में गोपवान ऋषि की चर्चा है[11]। गोपवान ने शारीराग्नि के योगक्षेम की प्रार्थना की है। वैदिक अग्निसाधना के 'तं त्वा' मन्त्र में शरीरस्थ अग्नि से व्यावहारिक अग्नि की उत्पत्ति की चर्चा है। मार्कण्डेय पुराण में शुम्भ एवं निशुम्भ को समाप्त करने के लिये देवताओं के शरीर से निकली हुई तेजोराशि की चर्चा है। यही 'तेजोराशि एकस्था तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा' इन दुर्गा सप्तशती के शब्दों के अनुसार शाक्त जगत् की आराध्य शक्ति 'अम्बिका' है।

एवं वैदिकी अम्बिकाराधना ध्यान द्वारा शरीरस्थ उष्मा को समझना है एवं संविद शरीरोष्मा का ज्ञान ही साधक को अम्बिका शक्ति का द्रष्टा बनाता है।

---

१०. सदा गावः शुचयो विश्वधायसः सदा देवा अरेपस ॥
सामवेद १/६

११. तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्टदग्ने अङ्गिरः स पावक श्रुधी हवम् ॥
सामवेद पूर्वार्चिक ३/९

वेद में तत्वों के रूप से अनन्त शक्ति के परिचय हैं। वाग्देवी की चर्चा पंक्ति अर्थात पञ्चतत्वों से निर्मित शरीर के आकाश में की गई है। सरस्वती या वाणी ही एक को दूसरे के अभिमुख करती है [21]।

पितृ आराधक मण्डल 'श्राद्ध' करता है। श्राद्ध की शक्ति स्वयं में श्रद्धा देवी है। ज्ञान एवं व्यवहारतः अग्नि की उत्पत्ति को सामवेद में श्रद्धा जननी से बताया गया है[13]।

ज्वालादेवी[14] अदिति[15] एवं सरस्वती, गायत्री तथा गंगा देवी की चर्चा (उत्तरार्चिक प्रथम प्रपाठक के चतुर्थ खण्ड में) की गई है, आदि साधना का ऐतिहासिक क्रम प्राप्त रूप भी है।

विकास के इतिहास में ब्रह्म की माया के समान पुरुष की नारी शक्ति के रूप में प्रथम है। अथर्ववेद पशुधन का दायित्व नारी शक्ति को बताता है। यज्ञीय कार्यों में नारी जल का विवेक करती है[16] एवं सम्पन्न यज्ञ नारी को जल देता है। नारी भरण-पोषण के कारण भार्या है, व्यष्टि जीवन में स्त्री है एवं समष्टि जीवन में यही शक्ति पृथ्वी या धरा है। धरा को बृहद् जलराशि धारण करती है[17]।

सांख्यशास्त्र गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी को उत्पत्ति का उल्लेख करता है। गन्ध देह क्रम में नासिका से गृहीत होता है। नासिका की देवता अश्विनी कुमार हैं। अथर्ववेद में अश्विनी कुमारों से पृथ्वी की उत्पत्ति बताई गयी है एवं उसकी आराधना की स्तुति में

---

१२. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्रदेव्येतु सूनृता ॥ सामवेद (६।२)
१३. जातः परेण. . .श्रद्धा माता मनुः कविः. . .॥ सामवेद १० (९)
१४. उत्तरार्चिक प्रथम प्रपाठक, सामवेद ९ (६)
१५. उत्तरार्चिक प्रथम प्रपाठक, सामवेद १६ (५)
१६. परेहि नारि. . .जहीतात् . . . (१३) एवं एमा अगुर्योषितः . . . कुम्भं भाय . . .॥ अथर्ववेद २, १४ (११)
१७. विश्वंभरा वसुधानी. . .नोदधातु . .॥ अथर्ववेद २,६ (१२)

विष्णु को उसकी विशालता पर घूमने वाला एवं इन्द्र (जलधरों के स्वामी) को रक्षक कहा गया है। पृथ्वी को मातृ शक्ति के रूप में दुग्धवत्, जलपायिनी भी कहा गया है[18]।

वेद की सूत्रात्मक रीति की आराधना है। वासनामयी (गन्धमयी) पृथ्वी की शक्ति घ्राण के गन्धग्रहणसामर्थ्य पर संयम से सुलभ होती है। मूलाधार (शरीरस्थ गुदामण्डल) पृथ्वी का कम्पन क्षेत्र है। यहीं समस्त बल रहता है। पृथ्वीतत्व में ही समस्त तत्व रहते हैं। अथर्ववेद इसे 'महत्संघस्थं' शब्दों से गाते हैं। पृथ्वी के कम्पन को अनुभव करने वाले साधक यक्ष्मादि रोगों से मुक्ति के साथ विश्व में अपराजेय रूप से रहते हैं[19]। पृथ्वी में आकर्षण का सामर्थ्य होता है। अथर्ववेद इसी से पृथ्वी को "कृष्णा" कहता है। तन्त्रशास्त्र की यही कृष्णा कालिका है। वेद में तन्त्र के प्रतीक हैं। प्रतीकों को तत्वों के रूप से ही न समझकर सृष्टि के आरम्भक जानना तन्त्रज्ञान है। तन्त्रज्ञान शक्ति को व्यावहारिक सिद्ध करता है।

अथर्ववेद में मन्त्रशक्ति से मुर्दे के धुंये से होने वाली पशु एवं मनुष्य सम्बन्धिनी रुग्णता के निवृत्ति की चर्चा[20] मिलती है, इससे मन्त्रशक्ति के इतिहास को अथर्ववेद से जोड़ना उचित है।

वैदिक शाक्तसाधनाएं वस्तुविशेष के माध्यम के साथ की जाती हैं। शिर रोम सीसे नलुवाघास (नड) तथा भेड़ एवं नारी (दुग्ध) से दूर किये जाते हैं[21]।

---

१८. यामाश्विनौ . . . मे पयः॥ अथर्ववेद २ (१०) (१२)
१९. बभ्रू कृष्णां . . .॥ अथर्ववेद (२।११।१२)
२०. अन्येभ्यस्त्वा . . .॥ अथर्ववेद (२।१६।१२)
२१. सीसे मलं . . .॥ अथर्ववेद (२१।६।१२)

अथर्ववेद में जीवनी एवं चिरायुष्य देने वाली शक्तियों की चर्चाएं हैं। पाषाण शक्ति (चूना = कैल्शियम) से मृत्यु को जीतने की एवं पाषाण युक्त जलों वाली नदियों में रोगशमन की शक्ति का उल्लेख[22] अथर्ववेद में है। 'कृत्या' मारण शक्ति का नाम अथर्ववेद में मिलता है[23]। मारण एवं राजयक्ष्मा से सुरक्षित रखने वाली 'मण्डूर' शक्ति का[24] औषधि के रूप में उल्लेख एवं इसी प्रसंग में 'अंशुमती' की चर्चा तन्त्र-मन्त्र शक्तिप्रधान शाक्तागम का ऐतिहासिक रूप परिचय अथर्ववेद का पृथक् महत्व है।

जीवधारियों के शरीर में प्रजनन क्षमता उक्त 'अंशुमती' से बनती है। सूर्य का अंशु (किरण) मय प्रकाश सामर्थ्य 'अंशुमती शक्ति' है। समस्त विश्व में सूर्य की किरणें चालन का कार्य करती हैं। इन्हीं चंचल किरणों के गर्भ में 'शुक्र' रहता है। अथर्ववेद अंशुमती की गोद में बालक के समान शुक्रकणों के निवास की चर्चा करता है[25]।

वैदिक शाक्त आराधना का रूप तत्वाराधना है। जल से अग्नि को पाना या जल में अग्नि दृष्टि रखना वैदिकी शाक्ताराधना का रूप नितान्त व्यावहारिक जगत् का है। लोकतन्त्र में क्षत्रिय (रक्षक) वर्ग सदैव शक्ति का केन्द्र बताया गया है। वेद में क्षात्रशक्ति का स्रोत जलमयी अग्निदेवता को कहा है[26]। आदि से वेदों का शक्ति रूप समझा जाता है।

---

२२. २१-२३ एवं २६ मन्त्र, (१२) २ खण्ड, अथर्ववेद।
२३. यदा कृत्यायां। (६६) द्वितीय खण्ड, काण्ड १४, अध्याय २, अथर्ववेद।
२४. युद्ध प्राचीर मण्डूरधाणिकी ॥ (२) काण्ड २०, अध्याय ९, अथर्ववेद।
२५. अद्य...।९ (२) काण्ड २०, अध्याय ९, अथर्ववेद।
२६. शिवान देवीः...॥ १३ (२) १६ काण्ड, अथर्ववेद।

तत्त्वशक्ति के अतिरिक्त कालशक्ति को वैदिक शाक्त जानते थे। प्रात: काल में उषा का आराधन (प्रबोध) आयुष्यदायी है, इसकी चर्चा ऋग्वेद में मिलती है[27]। प्राय: अन्य शक्तियों के साथ विशेष रूप से अग्निशक्ति की चर्चा चारों वेदों में है। अग्नि को एक ही युवावस्था में स्थायी रूप से रहने वाला कहा गया है[28]। अग्नि की आराधना मनुष्यों की थकान दूर करती है[29]।

सूर्यशक्ति प्रात: काल रत्नमयी आभा से सम्पन्न दिखलाई देती है। इस शक्ति को रत्नधारिणी एवं पोषिका तथा कल्याण-कारिणी कहा गया है। इस शक्तिप्रवाह को ऋग्वेद में 'सरस्वती' के नाम से भी पुकारा गया है[30]। उष:काल के प्रसंग में सरस्वती को 'भारती' तथा 'इडा' के नाम से भी व्यवहृत किया है, आदि नामोल्लेख वैदिक शाक्तपरिचय है। मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत रात्रिसूत्र भगवती को विश्वेश्वरी जगद्धात्री तथा रात्रि कहता है। ऋग्वेद २।३।८ में रात्रिशक्ति को सरस्वती के साथ साथ गूंगू कुठू देवपत्नी एवं रात्रि कहा है।

वैदिक काल में सूर्य को शक्ति का कोष माना गया है। सूर्य शक्ति को 'असुनीति' नाम से कर्म या कार्य के कारण कहा गया है। 'असुनीति' शक्ति का इसी नाम से (लोक) तन्त्र में कहीं भी उल्लेख नहीं है। लौकिक एवं वैदिक कोष में असु शब्द का अर्थ प्राण है। प्राणों को सूर्य रश्मियां अपने में जोड़े रखती हैं। 'असु' अर्थात् प्राणों को नीति अर्थात् गति देने की शक्ति 'असुनीति' शब्द से ऋग्वेद में समझी गई हैं। वैदिक ऋषि असुनीति से प्रार्थना करता है, 'हे असुनीते ! तुम हमारी ओर अग्रसित होओ, हमें परमायु दो, सूर्य की सीमा तक हमारे निवास की क्षमता को उत्पन्न करो। घृत

२७. स्यूमना:...उषसो विभाती:.....आयुनिर्ददीहि प्रजावत...॥
ऋग्वेद (१७।१।८)
२८. ऋग्वेद (४।१।२)
२९. ४ मन्त्र, शेष पूर्ववत्
३०. ४९ मन्त्र, ३ अध्याय, शेष पूर्ववत

से शरीर को समृद्ध करो[३१]। इस प्रकार से शक्ति साधना को सूर्य से प्रारम्भ मानना उचित है।

लोकतन्त्र में 'छाया पुरुष' साधना सूर्य के प्रकाश में की जाती है। सूर्य की इस शक्ति को 'सरण्यू' कहा जाता है। वेद इस शक्ति को मनुष्यों के अन्तराल में छिपी बताते हैं। 'सरण्यू' सूर्य छाया है। 'छाया' को अतिसुन्दरी सूर्य की पत्नी कहा गया है एवं इसे अमृता बताया गया है। छाया (सरण्यू) का पुत्र यम है। ऋग्वेद में 'सरण्यू' का आख्यान तन्त्र का व्यावहारिक रूप है। यह आख्यान शक्तिमान् की शक्ति के आराधना का रूपक[३२] क्रम में वर्णित है।

लोक साधना के स्वप्नेश्वरी का ऐतिहासिक रूप ऋग्वेद में मण्डल ८, अनुवाक् ६ की 'उषा' में दिखाई देता है। मानव का प्रच्छन्न, स्वप्न रूप से अवचेतन द्वारा प्रकट होता है। स्वप्नेश्वरी स्वप्न की शक्ति है। उसकी आराधना से दुःस्वप्न सुस्वप्न हो जाते हैं। स्वप्नेश्वरी सूर्य संबद्ध उषा की शक्ति है। स्वप्नेश्वरी के रूप से उषा की प्रार्थना में दुःस्वप्न निवारण की ऋग्वेदीय चर्चा स्वप्नेश्वरी तन्त्र का ऐतिहासिक परिचय है[३३]।

माया, छल या कपट की दृष्टि से 'इन्द्रजाल' की चर्चा संस्कृत नाटकों एवं तन्त्रों में है। इन्द्र को वेद में 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' शब्दों से मायाओं के कारण बहुरूपी कहा गया है एवं इन्द्र की शक्ति को इन्द्र की स्त्री के रूप में 'इन्द्राणी' नाम से बताया गया है। ऋग्वेद में इन्द्राणी को सुन्दरी तथा अंगसंपन्ना कहा गया है[३४]। इन्द्र आत्मा है। इन्द्राणी आत्मशक्ति है। शरीरस्था शक्ति

---

३१. ५ (२२), तृतीय खण्ड, ऋग्वेद
३२. त्वष्टा...।अपा...॥ २, तृतीय खण्ड मं. १० अनु. २ ऋग्वेद
३३. १५ (९) तृतीय खण्ड मं. १० अनु. २, ऋग्वेद
३४. ८ (३) मं. १०, अनु. ७,ऋग्वेद

कुण्डलिनी है। इसका विस्तार जंघाओं में है। इन्द्राणी (पृथुष्ठः) व्यापक ब्रह्म (इन्द्र-आत्मा) की शक्ति है। शक्ति सूक्ष्म रूप से तन्त्र में सम्मोहिका होती है। शरीरस्थ स्पन्दन को अंगों के द्वारा संपन्न करना एवं बढ़ाना इन्द्राणी की योगदृष्टिपूर्वक वैदिक तन्त्र-साधना है।

'वागाम्भृणी' नाम की ऋषि की चर्चा ऋग्वेद को वेदान्त तन्त्र का प्रारंभक सिद्ध करती है। ऋग्वेद के वागाम्भृणी सूक्त में 'ब्रह्मशक्ति' का व्यापक तथा स्थापक रूप बताया गया है। 'अहं' को समृद्ध करना इसकी साधना है। समृद्ध सत्व प्रधान 'अहं' ही सब कुछ कर सकता है, यह वैदिक शक्ति का रहस्य है[35]।

(२) उपनिषदों में शक्ति के स्वरूप

उपनिषद्, ब्रह्म के समीप स्थिति देने वाली विद्या को कहा जाता है[36]। ब्रह्म के दो रूप हैं। एक परब्रह्म तथा द्वितीय अपरब्रह्म। राम, कृष्ण आदि विभूति संपन्न अपरब्रह्म कहे जाते हैं। योगी कृष्ण अपने शिष्य अर्जुन को स्वयं से विशिष्ट परपुरुष को बताते हैं[37], जिससे उनका अपर ब्रह्मत्व भी सिद्ध होता है। अपर पुरुष माया के बल से आदरणीय होते हैं। सन्त कवि तुलसी उक्त धारणा से प्रभावित थे। उन्होंने शक्ति या माया के अधीन ब्रह्मादि देवजगत् को माना है। यथा 'यन्माया वशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवा सुराः' (रामायण) आदि शक्ति को प्रकृष्ट (उच्च) कृति करने के कारण देवी भागवत में प्रकृति कहा गया है[38]। शक्ति-

---

३५. अहं रुद्रेभि...महिना संबभूव...। मं. १०, अनु. ७, ऋग्वेद

३६. सदेर्धातोः विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषद् इति। (कठोपनिषद् टीकायां शंकराचार्यः)

३७. पुरुषः परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया...॥ गीता – ८।२२

३८. प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥...सा च शक्तिसमन्विता...॥ ५-६-७(१)९ देवीभागवत।

शास्त्र, प्रकृति एवं शक्तिसंपन्न ब्रह्म को अपृथक् रूप में स्वीकार करते हैं एवं अग्नि, अग्निशक्ति दाहिका को अग्नि से अपृथक् भाव के समान ही शक्ति एवं शक्तिमान् को सिद्धान्ततः एकरूप में मानते हैं[39], आदि का सिद्धान्त आधार 'केनोपनिषद्' है।

केनोपनिषद शक्ति को व्यवहार में स्त्री रूप में 'ब्रह्म' मानता है[40] एवं इसी की शक्ति को इन्द्रादि देवता में स्वीकार करता है। शक्ति के योग से ही इन्द्र एवं वायु आदि विशिष्ट सामर्थ्यवान् कहे गये हैं। शक्ति के बिना तुच्छ होते हैं।

गणपत्युपनिषद् में प्रतिमानव के मूलाधार में स्थित शक्ति को गणपति कहा गया है तथा उसे ब्रह्म, विष्णु, इन्द्र तथा अग्नि आदि के नामों से बताया गया है[41]।

वाक् एक शक्ति है। वाक्, प्रतिप्राणी में एक सामर्थ्य है। बृहदारण्यक में वाक् को ब्रह्म कहा है[42]। यह अपरब्रह्म है। व्यक्त को रुद्रहृदयोपनिषद् में उमा कहा है एवं अव्यक्त परब्रह्म को महेश्वर[43]। शरीरस्थ चैतन्य महेश्वर या शिव है। शिव के साक्षात्कार करने के लिये योगोपनिषदों में मिताहार का महत्व है[44]। मिताहारादि नियमों से सम्पन्न साधक वाक्शक्ति की देवता सरस्वती का साक्षात्कार कर सकता है। योगकुण्डली उपनिषद् में सरस्वती के चालन से कुण्डली शक्ति के चालन की चर्चा मिलती है[45]।

---

३९. सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी. ॥ (१०।१।९) देवी भागवत

४०. स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद् यक्षमिति ॥.२५ (१२) (३) केनोपनिषद

४१. त्वं मूलाधारस्थितोऽसि नित्यम्...त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं...। गणपत्युपनिषद्

४२. ..वाक् वै ब्रह्म तस्या एषयतिस्तस्माद् .॥ २१ (३) (१) बृहदारण्यक

४३. व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं तु महेश्वरम्..॥ (१०) रुद्रहृदयोपनिषद्

४४. भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते॥ योगकुण्डल्युपनिषद् (४)

४५. ...अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती। यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली..॥ योगकुण्डल्युपनिषद (९।१०)

शक्ति के पर, अपर दो रूप हैं। लौकिक दृश्य शक्तिसामर्थ्य अपरशक्ति के परिणाम हैं। वृहदारण्यकोपनिषद् में परा शक्ति की चर्चा है। परा शक्ति को काम-कला एवं श्रृंगार-कला कहा है। इसी से ब्रह्मादि देवता तथा समस्त विद्याओं का प्रादुर्भाव होता है[46] ऐसा कहा गया है। कामकला आद्या शक्ति है। स्वयं के सुख में रमण करने वाली अनुपमेय शक्ति कुण्डली है। समस्त चराचर की बीजरूप कारणशक्ति में शिव (चैतन्य) प्रतिविम्बित होता है[47]। वस्तुतः प्रकृति में आकर्षण की शक्ति है। ब्रह्म प्रकृति में स्वयं खींचता है। गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद में शक्ति के कर्मानुसार शक्ति को कृष्णात्मिका (आकर्षणमयी) रुक्मिणी के नाम से कहा गया है[48]।

संगमनी शक्ति की चर्चा देव्युपनिषद् में है। संगमनी शक्ति वसुओं को व्यवहार के लिये एक क्रम में प्रस्तुत करती है[49]। कर्मफल साधनात्मक समस्त हित वसुओं मे निहित हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् में अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा एवं नक्षत्रों को 'अष्ट वसु' कहा है[50]। 'वसुओं' का संगमन या संघात अथवा संगठन विश्व का दर्शन है।

'दुर्गा'शक्ति संगमनीशक्ति का ही पर रूप है। दुर्गाशक्ति से अन्य विशिष्ट शक्ति का रूप होता है, ऐसी चर्चा देव्युपनिषद में है[51]।

---

४६. कामकलेति...सरस्वती ब्रह्मानन्दकलेति। (वृहदारण्यकोपनिषद।)
४७. सा जयति शक्तिराद्या....निर्मलादर्शः॥ (१) श्रीमत्पुण्यानन्दाचार्य विरचित कामकलाविलास। काश्मीर श्रीनगर।
४८. कृष्णात्मिका जगतकर्त्री मूलप्रकृती रूक्मिणी॥ (१२) गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद्
४९. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनामहं...॥ ३, देव्युपनिषद्।
५०. कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च। सर्वं हितमिति तस्माद्वसव इति॥ वृहदारण्यक उपनिषद् (३।९।३)
५१. ...ज्ञानानां चिन्मयातीता। यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता॥ देव्युपनिषद् (१९)

अथर्ववेद के 'सीतोपनिषद्' में 'सीता' शक्ति की चर्चा मूल प्रकृति के परिचय के रूप में है। पुनश्च व्यवहार तथा परमार्थ की दृष्टि से सीतोपनिषद् में इसके तीन नाम दिये है[52] इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति एवं साक्षाच्छक्ति।

शक्ति :

तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त शक्ति को (ब्रह्म की) माया में प्रच्छन्न एवं सदैव स्थित मानते हैं। विमर्श (मन्थन) द्वारा उसका (शक्ति का) प्राकट्य होता है। शक्ति के व्यवहार में तीन अंकुर या पल्लव सदृश इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया रूप हैं[53]। शक्ति विमर्श द्वारा विश्व को प्रस्तुत करती है। विमर्श के आत्मा में लीन होने पर विश्व का लय होता है। एवं विश्व की उत्पत्ति तथा समाप्ति में शक्ति ही एक मात्र हेतु है।

व्यक्त शक्ति सत्व, रजस् एवं तमस् के प्रभेद से क्रमशः ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया रूप में समझी जाती है। अव्यक्त शक्ति मूल निर्गुण प्रकृति भी स्वयं में समस्त को छिपाकर रखती है। अथर्वशिरः उपनिषद् में साधना की दृष्टि से शक्ति के व्यवहार में तीन धर्ण स्वीकार किये हैं। परमार्थ में निर्गुण शक्ति को स्फटिकसंनिभा कहा है। वर्णों को क्रमशः 'प्रथम मात्रा' आदि नाम से सीमित किया है। प्रथम मात्रा को रजोगुणी रक्तवर्णा एवं द्वितीय मात्रा को तमःप्रधाना कृष्णवर्णा और सत्त्वप्रधाना तृतीय मात्रा को

---

५२. सा देवी त्रिविधा भवति शक्त्यात्मना इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिः साक्षाच्छक्तिः इति। सीतोपनिषद्

५३. तथाहि सदिदं...मायाण्डं संज्ञितम्॥ (१८७)
इच्छाज्ञानक्रियारोहं विना नैव सदुच्यते। ... भैरवीये चिदात्मनि॥ (१८७) (अस्य टीकायां जयद्रथः—) 'जिज्ञासादिक्रमेण स्वातन्त्र्यात्मनो विमर्शशक्तिः पल्लवप्रायासुइच्छाज्ञानक्रियासु....। चतुर्थमाह्निकम् तत्वविवेचक प्रेस, बम्बई, १९२१, (पृष्ठ २१७)

कपिलवर्णा कहा तथा निर्गुणा चतुर्थी मात्रा को स्फटिकवर्णा कहा है[54] एवं कहा जा सकता है कि उपनिषदों में शक्ति का परिचय गुणात्मक एवं व्यावहारिक रूप से है। पुराणों के समान आकार वाला प्रधान शक्ति का रूप उपनिषदों में नहीं है।

(३) विभिन्न पुराणों में शक्तिप्रभेद एवं साधनाएं

पुराण :

संस्कृत समय प्रसिद्धि में पुराणों का उपदेश सार 'अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥' है। उक्त वाक्य में परोपकार को पुण्यप्राप्ति का साधन माना गया है। उपकार शक्तिसंपन्न व्यक्ति ही कर सकता है, इसको समक्ष में रखकर पुराणों में शक्ति आराधना की चर्चाएं एवं साधना प्रकार हैं।

मत्स्य, मार्कण्डेय, भविष्य, भागवत, ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, वामन, वायव्य, वैष्णव, वाराह, अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड़, कूर्म एवं स्कन्द नाम से प्रसिद्ध १८ पुराणों की चर्चा देवी भागवत में है[55]।

पुराणों का संबन्ध अखिल धर्मों के मूल वेद से है। वेदों के विस्तार (व्यास) करने वाले वेदव्यास पुराणों के रचयिता हैं। व्यास ने अपने शिष्यों को पृथक-पृथक वेद के रक्षण का कार्य सौंपा

---

५४. या सा प्रथमा मात्रा ब्रह्मदैवत्या.. या सा चतुर्थी मात्रा सर्वदैवत्या अव्यक्तीभूता...शुद्धा स्फटिकसंनिभा॥ अथर्वशिरः उपनिषद्।

५५. 'म'-द्वयं 'भ'-द्वयं चैव-'ब'त्रयं 'व'-चतुष्टयम्। 'अ'-'ना'-'प'-'लिङ्ग'-'कू'; 'स्का' नि पुराणानि पृथक् पृथक्॥ देवीभागवत (२।३।१)

एवं साथ ही पुराणों के रक्षण का दायित्व सूत के पिता रोमहर्षण को इत्यादि चर्चा श्रीमद्भागवत में है[56]।

पुरा काल में जो नवीन थे, वे ही उत्तर (बाद) में पुराण कहे जाते हैं। प्रत्येक द्वापर युग में विष्णु ही अतीत इति वृत्तों का संस्करण प्रस्तुत करते हैं। संस्करणकर्ता विष्णु को व्यास कहा जाता है। जन-साधारण के हित की दृष्टि से पुराणों की रचना का महत्त्व देवीभागवत में माना गया है[57]। हित या परोपकार की भावना गुणमयी है। प्रकृति सगुणा एवं निर्गुणा है जब कि ब्रह्म केवल निर्गुण। मूल प्रकृति गुणमयी है। व्यवहार में सत्त्व, रजस् एवं तमोगुण दृश्य जगत् को प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुति शक्ति का कार्य है। जगन्माता कार्य की कारणशक्ति गुणमयी है। पुराणों में इस शक्ति के गुणमय प्रभेदों की तीन देवियां स्वामिनी मानी गई हैं। सत्त्वगुण की देवी महालक्ष्मी, रजोगुण की देवी सरस्वती एवं तमोगुण की देवी महाकाली है[58]।

प्रकृति अजा एक है। उसके शक्तिमय तीन उक्त प्रभेद गुणमय हैं एवं शक्ति को व्यवहारतः गुणमयी माना जाता है।

---

५६. ... व्यदधात्यज्ञ संतत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् (१९)
...इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते (२०)
... इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः॥ श्रीमद्भागवत (१।४।२२)

५७. मन्वन्तरेषु सर्वेषु द्वापरे द्वापरे युगे। प्रादुःकरोति धर्मार्थी पुराणानि यथाविधि। ...विष्णुर्व्यासरूपेण सर्वदा...पुराणसंहितां पुण्यां कुरुतेऽसौ युगे युगे...स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां...हितार्थाय पुराणानि कृतानि च॥ देवीभागवत (१।३।१८-२१)

५८. निर्गुणा या सदा नित्या व्यापिका विकृता शिवा...तस्यास्तु सात्त्विकी शक्ति राजसी तामसी तथा। महालक्ष्मी सरस्वती महाकालीति ताः स्त्रियः॥ देवीभागवत (१।२।२०)

निर्गुण का कोई स्वरूप नही है। निर्गुणा ज्ञानगम्या एवं विश्वास से मान्या है। अन्यथा उसकी स्वीकृति नही हो सकती है[59]।

प्रत्येक पुराण में देवता विशेष के अनुसार एक शक्ति की मुख्यता है। शेष की भी चर्चाएं हैं। पुराणों में शक्ति को योग की स्वीकृत 'चिति' शक्ति के [60] समान ही महत्त्व है। शक्ति को सात्त्विक, राजस एवं तामस गुणों के अनुसार क्रमशः ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति तथा अर्थशक्ति माना गया है[61]। शक्ति को शंकराचार्य की 'माया' के समान देवीभागवत में 'महामाया' कहा गया है एवं शक्ति को सद् एवं असद् से विलक्षण किन्तु सद्-असद् रूप विश्व की कारिका कहा गया है। विभिन्न तत्त्वाभिमानी देव शक्ति के कारण ही कुछ भी कर सकते हैं अन्यथा वे स्वयं हिल डुल तक नहीं सकते हैं [62]। तत्त्वाभिमानी देवता जगत् के उपादान कारण-तत्त्वों से विश्व को प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वों एवं स्वयं देवताओं में 'चित्कला' की मुखयता है[63]। मार्कण्डेय पुराण में 'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्' आदि शब्दों से शक्ति को चितिमयी माना है।

विभिन्न देवताओं के नामों से प्रस्तुत पुराणों में देवता विशेष का महत्त्व उनकी शक्तियों के कारण है। शक्ति के मुख्य रूप

---

५९. निर्गुणा दुर्गमा शक्तिः निर्गुणश्च तथा पुमान्। ज्ञानगम्यो मुनीनां तु भावनीयौ तथा पुनः। ... विश्वासेनाऽभिगम्यौ तौ नाऽविश्वासेन कर्हिचित् ॥ देवीभागवत (३।७।११)

६० पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यंस्वरूपप्रतिष्ठा चिति-शक्तेरिति ॥ योगदर्शन (४।३४)

६१. ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरर्थशक्तिस्तथा परा ॥ देवी भागवप (३।७।२५)

६२ करोत्येषा महामाया विश्वं सदसदात्मकम्। ब्रह्मविष्णु... ॥ सर्वे शक्तियुताः शक्ताः कर्तुं कार्याणि स्वानि च। अन्यथा तेप्यशक्ताः वै प्रस्पन्दितुमनीश्वराः ॥ देवीभागवत (३।९।३७)

६३. उपादानं किलैतेषां चिदनुवृत्तिरिष्यते ॥ देवीभागवत (३।७।३४)

रज:प्रधान एवं तम:प्रधान हैं। प्रत्येक वस्तु के उत्पत्ति एवं लय का विनाश दो ही भाव मुख्य होते हैं। सत्व सभी भावों में अन्यथा-सिद्ध एवं प्रच्छन्न रूप से रहता ही है।

देवीभागवत में शक्तियां (देवियां)

शक्ति सर्वगता है। विचारवान् इसे 'ब्रह्म' कहते हैं। इसे ही भिन्न भिन्न साधक पूजते हैं[64]। तमोगुणप्रधाना शिवा योगनिद्रा कालिका शक्तियों में आद्या है। हृल्लेखा भुवनेशी या भुवनेश्वरी अरुणवर्णा कुमारी शक्ति का ब्रह्मरूप से देवीभागवत (३।३) में वर्णन है। भुवनेश्वरी को मणिद्वीपवासिनी एवं महाविद्या तथा महामाया कहा गया है।

इसकी साधना योगरीति से संभव है। सूत्रात्मक रूप से देवीभागवत में इनकी चर्चा है[65]। प्रतिव्यक्ति शरीर में कुण्डलिनी रूप से भुवनेश्वरी ही स्थित है। लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिये भुवनेश्वरी को अम्बिका कहा जाता है। अम्बिका की आराधना यज्ञ द्वारा की जाती है[66]।

दुर्गा दुर्गति से रक्षणार्थ कामबीज (क्लीम्) के द्वारा प्रसन्न की जाती है। दुर्गा देवी का ऐतिहासिक स्थान वाराणसी कहा गया है[67]। हिमालय में पार्वती देवी का स्थान बताया गया है।

---

६४. एवं सर्वगता शक्तिः सा ब्रह्मेति विविच्यते। सोपास्या विविधैः सम्यक् विचार्या सुधिया सदा।। देवीभागवत (९।३४)

६५. महाविद्या महामाया पूर्णा प्रकृतिरत्यया (५)। ... योगगम्या दुराशया ...नित्यस्वरूपिणी। देवीभागवत (३।३।५२)

६६. कुण्डलीमार्गेण हुनेत् ब्रह्मणि शाश्वते...समाधिनैव योगेन ध्यायेच्चेत-स्यनाकुलः... कृतकृत्यो भवेत्तात यो भजेज्जगदम्बिकाम्। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ध्येया श्रीभुवनेश्वरी।। देवीभागवत (३।१२।५८-५९)

६७. तथाऽत्र रक्षा कर्तव्या वाराणस्यास्त्वयाऽम्बिके। यावत्पुरी भवेद् भूमौ... तावत् त्वयाऽत्र स्थातव्यं दुर्गे देवि कृपानिधे।। देवीभागवत (३।२४।८)

पार्वती के शरीर से (अम्बिका) कौशिकी देवी की उत्पत्ति तथा स्वयं पार्वती का शेष रूप में 'कालिका' होने की चर्चा मार्कण्डेय पुराण[68] एवं देवीभागवत में समान रूप से है[69]।

भुवनेश्वरी पार्वती का एक रूप शताक्षी है। प्राणियों के दुःख में खिन्न होकर नेत्रों से जल वर्षण किया था एवं शाकादि को उत्पन्न किया था। इसी से भगवती को शताक्षी एवं शाकम्भरी कहते हैं[70]।

शक्ति का प्रभेद देवीभागवत के सप्तम स्कन्ध (अ० ३८) में सविस्तार वर्णित है[71]। पुनश्च देवीभागवत में गङ्गा, सरस्वती तथा लक्ष्मी की चर्चा है (नवम स्कन्ध के ६ अध्याय में)। विशेष रूप से राधा एवं गायत्री का महत्त्व नवम स्कन्ध में वर्णित है। नवम स्कन्ध में ही स्वाहा, स्वधा, दक्षिणा, षष्ठी, मङ्गलचण्डी, जरत्कारु (नागभगिनी) मनसा एवं सुरभि आदि शक्तियों का वर्णन है।

---

६८. .. कौशिकीति समाख्याता हिमाचलकृताश्रयः।
(मार्कण्डेस्यपुराणान्तर्गत दुर्गा सप्तशती पंचम अध्याय से)

६९. देवीभागवत ५।२३।१-४

७०. अनन्ताक्षिमयं रूपं दर्शयामास पार्वती। ...शताक्षी त्वं ततो भव॥
देवीभागवत ७।२८।३३,४४

७१. लक्ष्मी, हिङ्गुला, ज्वालामुखी, शाकम्भरी, भ्रामरी, रक्तदन्तिका, दुर्गा, विन्ध्यवासिनी, अन्नपूर्णा, भीमादेवी, विमला, चन्द्रमाला, कौशिकी, नीलाम्बा, जाम्बूनदेश्वरी, गुह्यकाली, मीनाक्षी, सुन्दरी, पराशक्ति, महालसा, योगेश्वरी, नीलसरस्वती, बगला, भुवनेश्वरी, त्रिपुरभैरवी, गायत्री, चण्डिका, पुष्करेक्षिणी, लिङ्गधारिणी, पुरुहूता, रति, चण्डमुण्डी, दण्डिनी, भूति, नकुलेश्वरी, चन्द्रिका, शाङ्करी, त्रिशूला, सूक्ष्मा, शर्वाणी, मार्गदायिनी, भैरवी, मङ्गला, स्थाणुप्रिया, स्वायम्भुवी, उग्रा (सती) विश्वेशा, महानन्दा, महान्तका, भीमेश्वरी, भवानी, रुद्राणी, विशालाक्षी, महाभागा, भद्रकर्णी, भद्रा, उत्पलाक्षी, स्थाण्वीशा, कमला, प्रचण्डा, त्रिसंध्या, मुकुटेश्वरी, शाण्डकी, काली, ध्वनि, स्थूला, हृल्लेखा।
देवीभागवत ७।३८।५-३०

पुराणों में शक्ति संबन्धी पूर्ण विस्तार देवीभागवत में है। अन्य पुराणों में शक्तिमान् के साथ-साथ प्रकृति एवं शक्ति की चर्चा है।

श्रीमद्भागवत में शक्तिस्वरूप :

सत्त्वप्रधान श्रीमद्भागवत पुराण में शक्ति को प्रकृति शब्द से व्यवहृत किया है। निर्गुण पुरुष को प्रकृति से उत्कृष्ट 'पर' शब्द से बताया गया है। प्रकृति के प्राकट्य को 'लीला' मात्र बताया गया है तथा विश्व का कर्तृत्व प्रकृति में माना गया है[72]।

श्रीमद्भागवत में विन्ध्यवासिनी देवी की चर्चा है। कंस के हाथ से छूटकर भगवती विविध स्थानों पर विविध नामों से स्थित हुई थीं। श्रीमद्भागवत के अनुसार देवी के नाम-दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, नारायणी, ईशानी, शारदा एवं अम्बिका आदि हैं[73]।

श्रीमद्भागवत में कात्यायनी के पतिप्राप्ति के लिये चीरहरण के प्रसंग में चर्चा है। इस प्रसंग में कात्यायनी को महामाया, महायोगिनी एवं भद्रकाली कहा गया है[74] एवं जल के समीप में अरुण की उदय वेला में रेते की मूर्ति बनाकर कात्यायनी की पूजा का प्रकार धूप, दीप, एवं पुष्प, पत्र तथा अंकुरों से बताया गया है[75]।

---

७२. अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतिः परः ॥ (३)
स एव प्रकृतिं सूक्ष्मां...यदृच्छयोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥ (४)
... कार्यकारणकर्तृत्वे करणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥ श्रीमद्भागवत (३।२६।८)

७३. नामधेयानि... दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च
शारदाम्बिकेति च..॥ श्रीमद्भागवत् (१०.२।१२)

७४. ...कात्यायन्यर्चनव्रतम् (१-३) कात्यायनि महामाये महा-
योगिन्यधीश्वरि ॥ श्रीमद्भागवत (१०।२२।४)

७५. श्रीमद्भागवत (१०२२।३।)

विवाह से पूर्व भवानी की पूजा की चर्चा रुक्मिणीहरण के प्रसंग में श्रीमद्भागवत में मिलती है। भवानी को अम्बिका नाम से भी कहा गया है।

इस प्रसंग में जल, गन्ध, अक्षत, धूप, वस्त्र, माला, भूषण, नाना प्रकार के खाद्य नैवेद्य, आरती एवं नमक, पूवे, पान, कण्ठसूत्र, फल तथा गन्ने से भगवती की पूजा का विधान प्रस्तुत किया है[76]।

श्रीमद्भागवत में तमःप्रकृति के लोगों की आराधना की प्रसंगवशात् चर्चा है। तमःप्रधान साधक संतति की प्राप्ति के लिये 'नरबलि' से भद्रकाली की आराधना करते थे[77]। प्रथम बलिनिमित्तक नरपशु को वस्त्र, भूषण, चन्दन एवं मालादि से अलंकृत करते थे एवं अच्छे स्वादु भोजन से तृप्त करके भद्रकाली के समीप नीची गरदन कराकर बैठाते थे।

तान्त्रिक गुरु मन्त्रपूत खड्ग से 'नरबलि' की रक्तधारा द्वारा इष्ट की प्रसन्नता को प्राप्त करता था[78]। किन्तु नर पशु के उत्तम साधक होने पर तमःप्रकृति के लोगों की हानि की चर्चा एवं उत्तम ब्रह्मचिन्तनशील सात्त्विक साधक का देवता से भी विशेष महत्त्व का प्रतिपादन श्रीमद्भागवत में किया गया है। अवधूत भरत के ब्रह्मतेज को भद्रकाली न सह सकी एवं मूर्ति से चटक कर प्रकट हुई तथा तमःप्रधान अपने आराधकों को भगवती ने मार दिया, आदि[79] से श्रीमद्भागवत की शाक्तसाधना सात्त्विक है कहना उचित है।

---

७६. भवानीं वन्दयांचक्रुर्भवपत्नीं भवान्विताम् ॥ (४५।४६),
अद्भिर्गन्धाक्षतै :. .॥ श्रीमद्भागवत (१०।५३।४७-४८)

७७. वृषल पतिर्भद्रकाल्यै पुरुष पशु मालमतापत्यकामः. .॥
श्रीमद्भागवत् (५।९।१२)

७८. श्रीमद्भागवत (५।९।१५-१६)

७९. निर्वैरस्य सर्वभूतसुहृदयः सूनायामप्यननुमत पालम्भनं तद्रूपलभ्यब्रह्म-तेजसाऽतिदुर्विषहेण दंदह्यमानेन वपुषा सहसोच्चचार सैव देवी भद्रकाली ॥ तत उत्पत्य पापीयसां . . . गलात्स्रवन्तमसृगासवमत्युष्णं सह गणेन निपीयातिऽपानमदविह्वलोच्चैस्तरां स्वपार्षदैः सह जगौ ननर्त च शिरःकन्दुकलीलया । श्रीमद्भागवत (५।९।१७,१८)

साधनाएं :

शाक्तसाधना का अन्तरंग प्रकार कुण्डलिनी साधना है। मार्कण्डेय पुराण में शक्ति को प्रकृति के रूप से नित्या अर्धमात्रा कहा है[80]। वैयाकरण व्यञ्जन को अर्धमात्रिक कहते हैं, तदनुसार छन्द: शास्त्र 'व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्' कहता है। प्रकृति की व्यञ्जना शक्ति (अर्धमात्रा) से चेतन का स्फुरण होता है। स्फूर्ति कुण्डलिनी है। सर्वत्र व्याप्त चेतन विश्व को जीवित करता है। कुण्डलिनी स्वतन्त्र है, स्वयं व्यापक निद्रा है, अस्फुट चेतना है। अतएव इसे अर्धमात्रा कहते हैं। महामाहेश्वर अभिनवगुप्त बीज में प्रस्तुत अंकुर को जन्म देने वाली स्फुरणा के समान कुण्डलिनी को बताते हैं एवं इसकी जागृति की साधना में विमर्श या विचार को एकमात्र उपादेय बताते हैं[81] एवं तप, स्वाध्याय, एवं ईश्वर में समस्त कर्मों का समर्पण रूप क्रिया योग[82] की अमहत्ता स्वीकार करते हैं[83]। अपितु यथास्थिति को देखना ही मुक्ति के प्रति कारण मानते हैं।

बाह्य तांत्रिक पूजा एवं साधना कालिकापुराण के ५९ वें अध्याय में वर्णित है। शक्तिसाधना का सरल प्रकार समस्त उचित कार्यों को करते हुये महामाया की 'स्मृति' रखना है। विशेषकर फल, पुष्प, ताम्बूल, अन्न एवं रस को भक्तिपूर्वक इष्ट (प्रिय) देवी को अर्पण करके ही खाना-पीना आदि चाहिये। कोई भी वस्तु इष्ट को अर्पणपूर्वक ही स्वीकार करनी चाहिए। मदिरापात्र, रक्तवस्त्रा नारी, सिंहशव, लालकमल, व्याघ्र (चीता) एवं वारण (हाथी) का संगम, गुरु तथा राजा को देखने पर महामाया को स्मरणपूर्वक प्रणाम करना शाक्तसाधना का उत्तम अंग है। इसी प्रकार से ऋतुमती भार्या का संगम करने पर चण्डी का ध्यान करना उत्तमता के लिए माना गया है[84]।

---

८०. अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषत:। . . . . त्वेतद्धार्यतेविश्वम्॥ आदि। रात्रिसूक्त मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत सप्तशती, प्रथम अध्याय से।

८१. अस्फुट: स्फुटता भावो प्रस्फुटन्स्फुटितात्मक:। अस्फुटादौ विकल्पे च भेदोऽप्यस्त्यन्तरालिकः। भूयो भूयो विमृशतां जायते तत्स्फुटात्मता॥ (४।५।६।७)

८२. तप: स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योग:॥ (२ पाद, योगदर्शन)

८३. अत्र तावत् क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति। चतुर्थ आह्निक के ९ श्लोक की व्याख्या में अनुपायाह्निक से टीका में श्रीजयद्रथ। ६०९, काश्मीर सीरिज।

८४. य: कुर्यात्तु महामाया . .॥ कालिकापुराण (४–१२।६०)



चित्शक्ति भगवती पीताम्बरा स्वरूपविमर्श

लेखकः–**वेणीमाधव अश्विनीकुमार शास्त्री**, ग्वालियर

आमुखम् :

अखिल संसार को चेतन और जड़ स्वभावभेद से व्याप्तकर तत्स्वभावानुकूल व्यापार में अभिव्यक्त होनेवाली शक्ति के भारतीय शक्तिसाधकों द्वारा दशरूप स्वीकार किये गये हैं। इन्हीं दशरूपों को शाक्तपरंपरा में दशमहाविद्याओं के नाम से वर्णित किया गया है। वैसे तो आज जितने भी स्वरूप शक्तिदेवतापरक देखने और सुनने को मिलते हैं वे सभी इन्हीं दशमहाविद्याओं के अवान्तर भेद कहे जा सकते हैं। दशमहाविद्याओं का आविर्भाव भी प्रयोजनविशेष के अनुसार जैसे दशावतार आविर्भूत हुए उसीप्रकार दशमहाविद्याएँ भी आविष्कृत हुई हैं।

संसार सर्वस्व के ज्ञान, कर्म और इच्छा पदों की अनुभूति के लिए जब जब योगस्वरूप से चिंतन किया गया तदनुरूप ही विशिष्ट तत्त्वसमुच्चय के संग्रह के साथ महाविद्याओं का क्रमशः आविर्भाव हुआ है। तत्त्वसंग्रह ज्ञानार्थ में, क्रियाविशेष की निष्पत्ति के लिए तथा इच्छा (काम) यजन हेतु सम्पन्न हुआ है। चित् स्वरूप में मूलतः महाविद्याओं का आविष्कार प्रथमतः हुआ तदनन्तर उनकी मनोदेहमय स्वरूपानुभूति करके ही साधकों ने मंत्रात्मक स्वरूप के आधार पर विग्रह की कल्पना की है। जिन विग्रहों का दर्शन महाविद्याओं के रूप में हम आज कर रहे हैं ये सभी साधकों के चिंतन में प्रकट हुई भावना के अनुरूप हैं। प्रत्येक महाविद्या के आविर्भाव की स्वतंत्र

कथा विभिन्न पुराणेतिहास ग्रन्थों में उपनिबद्ध प्राप्त होती है। इससे उनके प्रकट होने की प्रयोजनीयता पर प्रकाश प्राप्त होता है। जहांतक दैवत्व का प्रश्न है सभी महाविद्याओं में एकरूपता में प्राप्त होता है किन्तु दैवत्व के भी समय एवं प्रयोजन के अनुरूप भावना में यत्किंचित् परिवर्तन होने से पृथक् पृथक् स्वरूपों का आविर्भाव अपेक्षित हुआ है। पूर्वपुरुषों (ऋषियों) के काल में महाविद्याओं का आविर्भाव मंत्रात्मक ही था। क्रमशः सृष्टि में स्थूलता आने के साथ साथ क्रमशः ध्यानरहित भौतिक विग्रह का आविष्कार हुआ।

दशमहाविद्याओं में बगलामुखी भी एक महाविद्या हैं। इन्हें स्तम्भनी शक्ति के रूप में आविर्भाव किया गया है। इन्ही के शक्तिवैभव से ही लोकस्थिति बनी हुई है। इसी लिए इन्हें स्थिर बीज के साथ मनन करने का विधान है। किन्ही साधकों के अनुसार पृथ्वीतत्त्व प्रधान दैवत्व तथा किन्ही के अनुसार अग्नितत्त्व प्रधान दैवत्व श्री बगलामुखी का आविष्कृत हुआ है। उपलब्ध गुरूपदेश एवं वाङ्मय से यह स्पष्ट व्यक्त होता है। आविर्भाव की घटना के अन्तर्गत पीतवर्ण का सत्त्वप्रधान संबन्ध होने से श्रीबगलाम्बा को पीताम्बरा भी कहा गया है। दशमहाविद्याओं के क्रम में कालीक्रम, ताराक्रम और षोडशीक्रम में से भगवती पीताम्बरा बगला की षोडशीक्रम के अन्तर्गत मान्यता है।

सामान्यतया भारतीय दार्शनिक (वैज्ञानिक) क्रम से किसी भी वस्तु का विमर्श करने के लिए उसके त्रिविधस्वरूप का सरलीकरण कर लेने से सैद्धान्तिक विमर्श पूर्ण माना जाता है। त्रिविध स्वरूप के अन्तर्गत आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक स्वरूपों की गणना की गई है। प्रस्तुत संक्षिप्त विमर्श में भगवती पीताम्बरा के षड्त्रिंशत् वर्णात्मक स्वरूप का त्रिविध विमर्श प्रस्तुत है। षड्त्रिंशत् संख्या में ही शाक्तदर्शन की परिभाषानुसार तत्त्वसंख्या न किया गया है। यह शाक्त दर्शन के आकर ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। भगवती

पीताम्बरा के षड्त्रिंशत् वर्णात्मक (मंत्रस्वरूप) का विवरण गुरुपरं-परा द्वारा प्राप्तकर सर्वसाधारण को धारण करना चाहिए। इस विषय के लिए प्रातःस्मरणीय गुरुदेव श्री स्वामीजी महाराज द्वारा रचित "श्री बगलामुखी रहस्यम्" ग्रन्थ जो पीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद्, दतिया म. प्र. द्वारा प्रकाशित है, मननीय है।

भगवती बगला का आधिदैविक स्वरूप :

यजुर्वेद ५।२३ के आभिचारिक प्रकरण में भगवती बगलामुखी का दैवस्वरूप प्रकट किया गया है। वेदभाष्यकार उव्वट एवं महीधर ने भी इसकी पुष्टि अपने भाष्यद्वारा प्रकट की है। तैत्तिरीय श्रुति तथा निघण्टु के उल्लेखों में भी बगला का दैवीस्वरूप इंगित किया गया है। कात्यायनसूत्र में कृत्यानिवारण प्रसंग में जो निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह श्रीबगलामुखी के तांत्रिकस्वरूप से पूर्ण साम्यता रखता है। अथर्ववेद में भगवती बगला का उल्लेख अनेक सूत्रों में हुआ है। यजुर्वेद की काण्व, तैत्तिरीय, काठक तथा मैत्रायणी शाखाओं में भी बगला तत्त्व का उल्लेख प्राप्त है। यजुर्वेद में भगवती बगला को वैष्णवी शक्ति या विष्णुद्वारा उपाश्रित शक्ति कहा गया है। यह बगलाविद्या स्तम्भनक्तिरूपिणी है। यजुर्वेद ३२।६, ३२।७, पर बगला का व्यापकस्वरूप निर्धारणकर पुरुष रूप में स्तवन किया गया है। बृहदारण्यक के अक्षरब्राह्मण में भी ३।९ पर अक्षर रूप में भगवती पीता का उल्लेख है। वे० द० १।३।१०।११ पर उल्लिखित वचनों में रक्षात्मक-शत्रुविनाशक स्तम्भनशक्तिरूपा लिखा गया है। भगवद् गीता के अ० ३।४३ तथा अध्याय १०।४२ पर भी बगलादैविकतत्त्व का उल्लेख हुआ है। उक्त वैदिक दैवत् तत्त्व प्रामाण्य के अनुसार भगवती बगला के दैविक स्वरूप बोधहेतु पूज्य गुरुदेव की परा वाणी द्वारा उद्गीत तत्त्व निम्न प्रकार सुस्पष्ट होता है। यथा-- शिव+ शक्ति संयुक्तरूप परतत्त्व (चित्) का प्रकाशन शब्दतत्त्व से होता है।

शब्दतत्त्व से ही मंत्रों का आविर्भाव होता है। योगी महापुरुषों ने शब्द तत्त्वबोध से ही देवतास्वरूप और अभिव्यक्ति का साक्षाद्दर्शन परावाणी के रूप में किया था। अविकल चित्स्वरूप मूलाधारचक्र से उद्भूत परमात्मभाषारूपिणी (जागरणेसति) अनुभूति सर्वथा सत् होती है। इसी को योगदर्शन के रचयिता भगवान् पतंजलिने ऋतम्भरा प्रज्ञा के नाम से परा–पश्यन्ती–मध्यमा-वैखरी संज्ञाओं से चार प्रकार की निरूपित किया है। यही चारों भगवती पीताम्बरा की चार बाहु हैं। प्रज्ञा (सच्चिद्स्वरूप) के प्रभावबोधक मां पीताम्बरा के चारों बाहुओं में चार शस्त्र निहित हैं। प्रथमबाहु में गदा है यह व्यक्तवाक् स्वरूप है। द्वितीय बाहु में बज्र है, वाग्वज्ररूपिणी अज्ञान नाश करती है। तृतीय शस्त्र पाश है इससे महान् को भी गुणयुक्त वाक् द्वारा आबद्धकर द्रवीभूत किया जाता है। चतुर्थ बाहु में जिह्वारूप स्थूल वाक् है जो वरुणदेवतात्मक है तथा इस प्रतीक से रसनेन्द्रिय तथा वागिन्द्रिय दोनों के संयम का बोध स्पष्ट हो जाता है। चित्तवृत्तिनिरोधात्मक योग के साथ जिह्वा-संयम द्वारा काम (शत्रुरूप) का विजय प्रायोगिक है तथा वाक् संयम द्वारा वाग्मिता (प्रखर शब्दरचना के साथ प्रत्युत्पन्नमतित्व) प्राप्त होता है। उक्त दोनों नियंत्रण प्राप्त होनेपर सभी दोष (कामादिरिपु) स्वयं ही शान्त हो जाते हैं। भगवती का पीतवर्ण रक्षात्मक एवं मांगल्यसूचक है। इसी लिए ऋषियों ने भगवती के बीज का स्वरूप प्रकट करते हुए लिखा है–

हकारेकारपृथिवीनादबिन्दुसमन्वितम् ॥
वीजं रक्षामयं प्रोक्तं मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥
(ब० र० पृ० २६२)

पीतवर्ण से पृथ्वी का ग्रहण होता है, पृथ्वी तत्त्व से स्थैर्य भाव प्राप्त होता है, इसीलिए भगवती बगला को स्थिरमाया, स्तब्धमाया तथा स्थिरोमुखी भी कहा गया है। पीतवसना बगला वेदस्वरूपिणी है, वेद अविकल ज्ञानस्वरूप हैं। स्वर्णकुण्डलधारिणी

होने से भोग और मोक्ष भगवती के स्वरूप में निहित हैं जो साधक को सहज प्राप्य हैं। रत्नपुष्पावली की माला अनेक प्रकार के ऐश्वर्य की प्रतीक है तथा मुकुट परमेष्ठी पर गुरुपद-(ब्रह्मपद) का प्रतीक है। मुकुट में शोभित अर्द्धचन्द्र षोडशी कलास्वरूप है। त्रिनेत्रा स्वरूप से चन्द्र+अग्नि+सूर्य अथवा जागृत-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं का बोध कराया गया है। चतुर्थी अवस्था परामबा स्वयमेव बगला हैं। मणिद्वीप रूप आसन एवं छत्र हैं तथा सिंहवाहन धर्मस्वरूप है। इसीलिए भगवती पीताम्बरा के दैविक स्वरूप का विवरण पीताम्बरोपनिषद् में इस प्रकार प्रकट किया है। यथा-

ॐ अथ हैनां ब्रह्मरन्ध्रे सुभगां ब्रह्मास्त्रस्वरूपिणीमाप्नोति, ब्रह्मास्त्रां, महाविद्यां, शाम्भवीं, सर्वस्तम्भकरीं, सिद्धां, चतुर्भुजां. दक्षाभ्यां कराभ्यां मुद्गरपाशौ, वामाभ्यां जिह्वावज्रेदधानां, पीतवाससां, पीतालंकारसम्पन्नां, दृढ़पीनोन्नतपयोधरयुग्माढ्यां, तप्तकार्त्तस्वरकुण्डलद्वयविराजितमुखाम्भोजां, ललाटपट्टोल्लसत्पीतचन्द्रार्धमनुबिभ्रतीं, उद्यद्दिवाकरोद्योतां, स्वर्णसिंहासनमध्यकमलसंस्थां धिया संचिन्त्य, तदुपरि त्रिकोणषट्कोणवसुपत्रवृत्तान्तः षोडशदलकमलोपरि भूबिम्बत्रयमनुसन्धाय तत्राद्ययोन्यन्तरे देवीम्....॥

दैविकस्वरूप के प्रामाण्य हेतु विभिन्न देवताओं और ऋषियों द्वारा भगवती का सामयिक चिंतन-आराधन-आविर्भाव जब जब किया गया है वह इस प्रकार कहा गया है। चित्स्वरूपा कलारूपिणी भगवती पीताम्बरा का वैदिकविधि से अनुष्ठानकर ब्रह्मा को सृष्टि-सामर्थ्य प्राप्त हुआ था। ब्रह्माद्वारा ही बगलाविद्या का उपदेश सनकादिकों को किया गया है। सनत्कुमारों ने नारद को तथा नारद ने सांख्यायन नामक परमहंस को बगलाविद्या की दीक्षा प्रदान की थी। सांख्यायन ने ही षट्त्रिंशद्वर्णात्मक (मंत्राक्षर) विद्या को षड्त्रिंशत्पटलरूप में सांख्यायनतंत्र नाम से उपनिबद्ध किया है।

ब्रह्मा के बाद भगवान् विष्णु ने स्वयं भगवती की उपासना की है इसका उल्लेख अनेक तंत्रग्रन्थों में तथा सहस्रनामावलि में किया

गया है। तृतीय उपासक के रूप में भगवान् शिव ने पीताम्बरा की उपासना की है, उन्होंने कार्तिकेय को तारकासुरवध के समय इस विद्या का उपदेश किया है। दर्शनद्वारा ही परशुराम की ब्रह्मास्त्र विद्या के रूप में बगला का उपदेश किया गया था। परशुराम से द्रोणाचार्य को तथा द्रोणाचार्य द्वारा अश्वत्थामा को बगलाविद्या का उपदेश किया गया था। ब्राह्मणवेशधारी कर्ण को भी परशुराम ने इस विद्या का उपदेश किया था। भगवान् शिवने ही च्यवनऋषि को इसका उपदेश किया था। इसी विद्या से च्यवनने अश्विनीकुमारों के यज्ञाधिकार प्राप्ति के समय इन्द्रवज्र का स्तम्भन किया था। हनुमान् द्वारा जब सूर्य का निगिरण किया गया था तब पवनद्वारा स्तंभन विद्या का प्रयोग किया गया था। इसी प्रकार रावण पुत्र मेघनाद द्वारा इसी विद्या से हनुमान्जी को बंधन में ग्रसित किया गया था। अंगद द्वारा रावण की सभा में पादरोपण किया गया था जिसे बलशाली रावण द्वारा तनिक भी विचलित नहीं किया जा सका था। शक्तिविद्ध लक्ष्मण को रावण उठा तक नहीं सका। द्वापर युग में योगेश्वर कृष्ण ने इसी विद्या के प्रभाव से जयद्रथवध के समय सूर्यगति का स्तंभन किया था। श्रीमद् शंकराचार्य द्वारा स्वगुरुसमाधि में बिघ्नकरनेवाली रेवानदी का प्रवाहस्तम्भन इसी विद्या से किया गया था। श्रीनिम्बार्काचार्य द्वारा निम्बवृक्ष के ऊपर इसी विद्या के प्रभाव से अपने आश्रम में समागत किसी संन्यासी को सूर्यबिम्ब का दर्शन कराया गया था।

उक्त वैदिक प्रामाण्य की शृंखला से लेकर आगमप्रामाण्य द्वारा भगवती बगला का आधिदैविक स्वरूप भक्तजनों के सन्मुख उपस्थित किया गया है। बिशेषज्ञानार्थ गुरुदेवकृत बगलामुखीरहस्य द्रष्टव्य है।

भगवती बगला का आध्यात्मिक स्वरूप :

योगशास्त्र एवं तंत्रशास्त्र प्राय: एक जैसी ही शारीरिक और मानसिक रचना तथा क्रियाओं का अनुमोदन करते हैं तथा सिद्धान्ततः

मानते भी हैं। दोनों ही एक जैसी ही पारिभाषिक शब्दावली भी मान्य करते हैं। चित्तवृत्तिनिरोध स्वरूपाख्य योग में न केवल मन की चिन्तन-विचारणा और ध्यान से कल्पादि ही निरुद्ध नहीं होते अपितु शारीरिक अंग प्रत्यंगों की क्रियाएँ भी संयमित होती हैं। इसी प्रकार तंत्र में सुषुप्ति अवस्था में भी ऐसा ही होता है। योग क्रम से मनोनिग्रह हठ योग की प्रक्रियाओं के अन्तर्गत समाहित होता है, इस मार्ग से भी देवता का तादात्म्य प्राप्त होता है, पूज्यपाद गुरुदेव स्वामीजी के अनुसार मंत्र क्रम से (तांत्रिक मंत्र) भी देव साक्षात् या चित् शक्ति का जागरण होता है। मंत्र क्रम से जागृत् चित्शक्ति के स्वरूप को भगवती पीताम्बरा महाविद्या के रूप में कैसे जाना गया है वह साधक एवं विचारकों के लाभार्थ प्रस्तुत है, यथा—भगवती पीताम्बरा केवल शक्ति या केवल शिवतत्त्व नहीं है अपितु शिव+शक्ति सामरस्यरूपा हैं। बगलामुखी में ईश्वर, सदाशिव, शुद्धविद्या, माया और काल तत्त्वों का अपने मौलिक स्वरूप के साथ समावेश है। भगवती का क्रिया क्षेत्र नियति, राग, विद्या, कला और पुरुष तत्त्व हैं। इन सभी पर पूर्ण क्रिया भगवती करती है। साधकों को इस क्रिया का प्रत्यक्ष प्रमाण देखने को मिलता है। भगवती पीता मनः और बुद्धि तथा चित् और अहंकार तत्त्वों पर विशेष निग्रहकारी प्रभाव करती है इसीलिए इसके आध्यात्मिक स्वरूप में मनोबुद्धि निर्मलत्व विषया-शक्ति और बालसारल्य प्रकट होता है। चूंकि मनः एवं बुद्धि का नियमन करती है अतः इन्द्रियों का नियन्ता मनः पंच ज्ञानेन्द्रियों (चक्षु-श्रोत्र-रसना-घ्राण-स्पर्शन) तथा हस्त-पाद-वाणी-पायु-उपस्थ पंचकर्मेन्द्रियों का स्तंभन (स्थिरीकरण या जितेन्द्रियत्व) भगवती के प्रभाव से प्राप्त होता है। अहंता का पुनः पुनः स्मरण करानेवाली पंच महाभूत तन्मात्रा शब्दतन्मात्रा-स्पर्शतन्मात्रा-रूपतन्मात्रा-रसतन्मात्रा तथा गंधतन्मात्राओं का भगवती के प्रभाव से स्वतंत्र अस्तित्व न रहकर केवल चितिस्वरूप ही रहता है। पृथक् भेद विनाश से ही अहंता और विशिष्टता का लोप भगवती के साधकों में

प्रत्यक्ष होता है। स्तंभनस्वरूपा, स्थिरमायारूपिणी होने से गति-कारक वायुतत्त्व बाह्यजगत् में हो अथवा शारीरिक या मानसिक कर्म में व्यापृत वायु, सभी का संयमन (निग्रह) भगवती के अमृतप्रसाद से होता है। भगवती पीताम्बरा का मानस क्षेत्र में उक्त प्रकार से प्रभाव साधकों द्वारा अनुभव किया गया है तथा भगवती के संचार-क्रम में मूलाधार, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और अनाहतचक्र विशेष रूप से योग प्रक्रिया रूप में नियंत्रित होते हैं। परिणामतः साधक वशीस्वरूप स्वयंमेव हो जाता है। भगवती के आध्यात्मिक स्वरूप में तंत्रदर्शन के क्रमानुसार मान्य षड्त्रिंशद् तत्त्वों का ही उल्लेख यहां प्रस्तुत किया गया है। इस आध्यात्मिक स्वरूप का बोधमात्र शब्दप्रकृति से न होकर गुरुकृपा द्वारा प्राप्त कर लेना ही श्रेयोमार्ग है। विशेष विषय श्री बगलामुखी रहस्य में मननीय और चिंतनीय है।

श्री भगवती बगला का आधिभौतिक स्वरूप :

भगवती के आधिभौतिक स्वरूप का वर्णन करते हुए ब्रह्मास्त्र-विद्यास्तोत्र में कहा गया है कि मां सुवर्णमय आसन पर पीतांशुक धारणकर विराजमान हैं। मां का विग्रह त्रिनेत्रयुक्त स्वर्णवर्ण की आभायुक्त है। मुकुट में चन्द्रधारण किये हुए तथा गले में चम्पक पुष्प की माला धारण किये हुए हैं। चारभुजाओं में मुद्गर–पाश–वज्र एवं जिह्वा धारण किये हुए हैं। विविध आभूषणों से मंडित विग्रहयुक्त हैं। त्रिलोक भूः भुवः स्वः का स्तंभन करनेवाली हैं। मां के भौतिक विग्रहप्रभाव से वादी मूकवत् (स्तंभित) हो जाता है, भूपति रंकसम हो जाता है, अग्नि शीतल हो जाती है। क्रोधी शान्त हो जाता है, दुर्जन सज्जन के रूप में परिवर्तित हो जाता है। पंगु गतिशील होकर चलने लगता है। गर्वोन्नत क्षुद्र हो जाते हैं, सर्वज्ञ में जडता आ जाती है।

भगवती पीताम्बरा के आधिभौतिक स्वरूप का नित्यार्चन करने से कल्याण प्राप्ति के साथ साथ शरणागत भक्त के ऊपर प्रयुक्त सभी प्रकार के वेग और प्रहार शान्त हो जाते हैं। कलियुग में विशेष-रूप से भगवती पीताम्बरा ध्येय और उपासितव्य हैं। क्यों कि इन्हीं की स्थिरबीजात्मक कृपा से व्यक्ति स्त्र को ज्ञात करता हुआ अर्चा-विधान द्वारा बहिर्याग और फिर मंत्रस्फुरण द्वारा अंतर्याग की पूर्णता प्राप्तकर चित् स्वरूप का अनुभवकर लोककल्याणकारी भाव से जगत को देखने लगता है। पूज्यपाद गुरुदेव से प्राप्त अलभ्य चरणरज के प्रसाद स्वरूप ही यह भगवती का स्वरूप विमर्श प्रस्तुत हुआ है। साधक जन यदि इससे यत्किंचिदंशों में भी कुछ प्राप्त कर सके तो श्रम सफल होकर भगवती के चरणों में अर्पित होगा।



आगम में वैदिक दृष्टि

ले०– बदनसिंह
रायभा–आगरा (उ० प्र०)

सृष्ट पदार्थ दर्शन में स्रष्टा अर्थात् ईश्वर–प्रतिपादन और उनकी उपासना ही वेद के विषय हैं। जब समय की गति के साथ हिन्दू जाति की बुद्धि–प्रखरता का उत्कर्ष साधन होने लगा, तब परमार्थ विषय में मन के अग्रसर होने पर बुद्धि के सहयोग से कालक्रम से उपनिषद्, दर्शन और आगमशास्त्रादि प्रकाशित हुए हैं। तन्त्र कोई स्वतन्त्र शास्त्र नहीं है, वह वेद का रूपान्तर है–विशेषत: सांख्य, दर्शन और उपनिषद का सार है। तन्त्र साधन-शास्त्र है। उसे हम वेद की भाँति ही प्रधानत: दो भागों में बांट सकते हैं–(१)प्रवृत्ति के साधन और(२)निवृत्ति के साधन। प्रवृत्ति मार्ग में षट्कर्मों (मारण-उच्चाटन आदि) की साधन प्रणाली विवृत हुई हैं। निवृत्ति मार्ग में आत्मकल्याण का विषय प्रतिपादित है। वह क्रियावान साधक जो प्रतिदिन नियमानुसार चले, केवल वही निवृत्ति मार्ग का अधिकारी है। तन्त्र के विषय में वेद की ही भाँति एक बात और स्पष्ट है कि केवलमात्र पाण्डित्य या बुद्धि के द्वारा तन्त्र समझने या समझाने की क्षमता नहीं होती। वस्तुत: गुरु के स्वमुख से यदि कोई तन्त्रशास्त्र का उपदेश न सुने तो उसका यथार्थ अर्थ या मर्म को ग्रहण करना असम्भव सा है। यही कारण है कि इस प्रकार के प्रत्यक्ष फलप्रद शास्त्र पद्धति के अनुसार दीक्षा-ग्रहण या क्रिया-कलाप का अनुष्ठान करने पर भी हमें फल की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि सच्चे तन्त्रज्ञ गुरु के अभाव में यथारीति

क्रिया-कलाप का अनुष्ठान सम्भव नहीं होता। फलतः शास्त्रग्रन्थों से लोगों का विश्वास घटता जा रहा है। आज के मानव की दृष्टि भौतिकताप्रधान होने के कारण भी वह आगम के मूलभूत उद्देश्य आत्मज्ञान, जिसको लाभकर हो वह मानवजीवन के पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता है, को नहीं समझ पा रहा है। वर्तमान समय में वाक्सर्वस्वता और क्रिया-शून्यता-कोष से भारतीय समाज में तन्त्र-शास्त्र को अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखा जा रहा है। वेद और सदाचार विरोधी कितने ही तन्त्रग्रन्थों की नवीन रचनाएँ प्रस्तुत हुई हैं जिससे साधारण लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और आगम को वेद से नितान्त पृथक् एवं विरुद्ध सोचते हैं।

इस स्तम्भ का प्रमुख उद्देश्य आगम और निगम के समन्वयात्मक दृष्टिकोण को विज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना है। सत्त्व, रज, तम–त्रिगुण भेद से उपासना के अधिकार और प्रकार भेद की व्यवस्था वेद में भी है और ठीक उसी प्रकार की व्यवस्था तन्त्र या आगम में भी व्यवस्थित की गई है। इस व्यवस्था में कुछ भी वेदविरुद्ध व्यवस्था नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो श्रुति–स्मृतिविरुद्ध धर्म-शास्त्र के रचित करने की आवश्यकता ही क्या थी? जैसा कि कूर्म-पुराण का भी वचन है–

> श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि आगमादीनि यानि च।
> करालभैरवंचापि यामलंचापि यत् कृतम्।
> एवंविधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि वै॥

प्रकृत आगम शास्त्र में वेदविरुद्ध व्यवस्था बहुत ही स्पष्ट रूप में निषिद्ध हुई है। यथा–

> देवीनांच यथा दुर्गा वर्णानां ब्राह्मणो यथा।
> तथा समस्तशास्त्राणां तन्त्रशास्त्रमनुत्तमम्॥
> सर्वकामप्रदं पुण्यं तन्त्रं वै वेदसंमतम्॥

तन्त्रशास्त्र की मूलभित्ति सांख्य और उपनिषद पर स्थित है। हिन्दू समाज में युगधर्म के अनुरूप पवित्र तन्त्रशास्त्र के सात्त्विक साधन का प्रायः लोप सा हो गया है। वेद जिस प्रकार ज्ञान और कर्मकाण्ड इन दो भागों में विभक्त है, उसी प्रकार योगशास्त्र भी दो भागों में विभक्त है। तन्त्रोक्त क्रियाकलाप ही कर्मकाण्ड है और तन्त्र योगधर्म का भण्डार है।

आगम पूर्णतः वेदप्रतिपादित ही है क्योंकि वेद ने ही शाक्त सिद्धान्त को बड़े स्पष्टरूप में निम्न प्रकार प्रतिपादित किया है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्वेद १-१६४-४६)

यह सत्तत्त्व (परमात्मा) एक ही है, यद्यपि ज्ञानी लोग अपने स्वतन्त्र विचारानुसार उसका वर्णन इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुड़, यम और वायुदेव आदि अनेक नामों और रूपों से करते हैं।

जिस प्रकार वेद अपौरुषेय हैं, उसी प्रकार आगम भी अपौरुषेय हैं। आगमों का उपदेश भगवान् शिव ने दिया है-यह प्रतीकात्मक कथन है। जैसे मन्द्रजिह्व परमात्मा से उच्चरित वैदिक ऋचाएँ समस्त ब्रह्माण्ड में गूंजती रहती हैं उसी प्रकार आगम ऋचाएँ भी गूंजती रहती हैं। इन्हें ध्यानावस्थित ऋषियों ने प्रकट किया है। ऋषियों ने वेदों और आगमों का साक्षात्कार किस प्रकार किया, इसके समाधान में यही कहना है कि ऋषियोंने ऋचाओं को सुनने के लिए श्रवणदिव्यता प्राप्त की थी। आगमशास्त्रीय प्रमाणों से विदित है कि श्रोत्रों में दिव्यता का आविर्भाव बहिर्वृत्तिजन्य एवं अन्तर्वृत्तिजन्य इन दो साधनों से होता है। बहिर्वृत्तिजन्य साधनों का आधार नादब्रह्म की उपासना है। निरन्तर नादब्रह्म की उपासना-आराधना करते रहने से इन्द्रियों की वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं-'सदा नादानुसंधानात् संक्षीणा वासना भवेत्।'

अनादि काल से गुरु शिष्य परम्परा द्वारा आगत ग्रन्थ-संदर्भ 'आगम' शास्त्र है। आङ उपसर्गक गम् धातु से आगम शब्द निष्पन्न है। आगम शास्त्र से तन्त्र शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। जिस तरह गुरु-शिष्य परम्परा से आगत आगम है, उसी प्रकार वेद भी अनादि काल से गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त है। गुरुमुख से शिष्यों द्वारा सुने जाने के कारण जिस प्रकार वेदों को 'श्रुति' कहा जाता है, उसी प्रकार श्रवण द्वारा उपलब्ध होने के कारण आगम भी श्रुति कहलाते हैं। हारीत धर्मशास्त्र में कहा गया है कि 'धर्म को श्रुतियाँ प्रमाणित करती हैं और श्रुतियाँ वैदिकी तथा तान्त्रिकी भेद से दो प्रकार की हैं – 'अथातो धर्मं व्यख्यास्यामः। श्रुतिप्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च'। कणाद ने धर्म की परिभाषा बतलाते हुए कहा है कि '' जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है वह धर्म है–'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। जिस प्रकार वेदों में प्रवृत्ति और निवृत्ति परक दो प्रकार के धर्म का व्याख्यान मिलता है, उसी प्रकार का धर्म व्याख्यान तन्त्रों में भी मिलता है। यही दोनों प्रकार के धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए भुक्ति और मुक्ति नामान्तर से तन्त्रशास्त्र में व्यवहृत हुए हैं। शैव-सिद्धान्त परिभाषा में सूर्य-भट्टने कहा है कि 'वेद और आगम में कोई विरोध नहीं है'– 'नहि वेदागमयोरत्यन्तं विरोधं पश्यामः परकर्तृत्वाविशेषात्'। वेद विशेषतया अथर्ववेद ही समस्त तान्त्रिक प्रक्रिया वितान वैभव का बीज है। अनेक प्रकार के अङ्गों की संहति को तन्त्र कहा जाता है। कर्काचार्य ने 'कर्मणां युगपद्भावस्तन्त्रम्' कहकर स्पष्ट घोषित किया है कि कर्मों के युगपद्भाव को तन्त्र कहते हैं। यजुर्वेद के 'तन्त्रायणे नमः' की निरुक्ति करते हुए भाष्यकार महीधर ने लिखा है कि 'एष वै तन्त्रायी य एषस्तपति, एष हीमाँल्लोकाँस्तन्त्रमिवानुसंचरति' तात्पर्य यह है कि आदित्य तन्त्रायी है, वही तान्त्रिक ज्ञान का प्रसारक है। पञ्चवक्त्रशिव आदित्य ही है। इसमें कोई विवाद नहीं है। तन्त्रशास्त्र शिव के मुख से निर्गत होकर शक्ति में समा गया— 'आगतः शिववक्त्रेभ्यो गतश्च गिरिजानने।''

आगम की त्रिधा स्थिति मानी गई है। उदाहरणार्थ शैवागम में तन्त्र की भैरव अभेद दशा है, रुद्र भेदाभेद दशा है और शिव भेद दशा है। वस्तुतः त्रिक ही तन्त्रों का सार है। यही बात वेद के लिए भी प्रसिद्ध है। ऋक्, यजु और साम यह त्रयी वेद का सार है। यजु अभेदावस्था है, ऋक् भेदाभेदावस्था है और साम भेदावस्था है। इसी लिए शतपथ ब्राह्मण–१० में कहा गया है---'**स वा एषा वाक् त्रेधा विहिता ऋचो यजूंषि सामानि। सा या सा वागसौ स आदित्यः।..... मण्डलमेवर्चः। अर्चिः सामानि, पुरुषो यजूंषि।**' सूर्य के रूप में त्रयी तप रही है। सूर्य के अन्तराल में अधिष्ठातारूप से विद्यमान पुरुष यजुः है, मण्डल ऋक् है और साम है सूर्य की त्रिभुवनव्यापी रश्मिमाला। निगम अथवा वेद में सूर्य मुख्य है। सूर्य को जैसा कि ऊपर कहा गया है, त्रयी--वेदत्रय का रूप बतलाया गया है। आगम में वही बिन्दु, प्रकृति तथा शब्द ब्रह्म के रूप में प्रसिद्ध है। शब्द ब्रह्म के वाच्य तत्त्व सदाशिव अथवा पञ्चवक्त्र महेश्वर को 'वैदिक आदित्य' में निरूपित किया जाता है। इसका समर्थन छान्दोग्य उपनिषद् इस प्रकार करती है-- '**असौ वा आदित्यो देवमधु, तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षम् अपूपः मरीचयः पुत्राः**'। आदित्य देवमधु है, द्युलोक उसका तिरछा बांस है, अन्तरिक्ष मधु-मक्खियों का छत्ता है और किरणें बच्चे हैं। आदित्य के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं की किरणों से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं इतिहासपुराणात्मक पुष्परस प्रवाहित होता है। ऊर्ध्वगत रश्मियों से गुह्य आदेशात्मक मधुकर एवं ब्रह्म (प्रणव) तत्त्वात्मक पुष्प का रस प्रवाहित होता है। आदित्य के पूर्वादिक मुखों को अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम और ब्रह्मा के नाम से कहा गया है। ये अग्नि आदि सदाशिव के सद्योजात, तत्पुरुष, वामदेव, अघोर और ईशान मुख हैं। आदित्य अथवा सदाशिव के ईशानात्मक ऊर्ध्वमुख से निर्गत गुह्य आदेश ही आगम हैं और आगम में ये मुख ही आम्नाय नाम से जाने जाते हैं। स्वच्छन्दतन्त्र इसी बात को इस प्रकार स्पष्ट करता है--

'सद्योजातस्तु ऋग्वेदो वामदेवो यजुः स्मृतः ।
अघोरः सामवेदस्तु पुरुषोऽथर्व उच्यते ॥
ईशानश्च सुरश्रेष्ठः सर्वविद्यात्मकः स्मृतः ॥' तथा
'मन्त्राख्यं तु महाज्ञानमीशानस्तु विनिर्गतम् ॥'

साम्ब पञ्चाशिका में भी उसके सातवें और आठवें श्लोकों में पूर्वोक्त विवृत्ति का संकेत मिलता है ।

वेदों के 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' आदि अनेक मन्त्रों में पुंलिङ्ग शब्द द्वारा, वेदान्तों के 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते.. ..तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म' आदि वाक्यों में नपुंसकलिङ्ग शब्दों द्वारा जिस परम व चरम तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, वही शाक्तों की स्त्रीलिंग शब्दसूचिता शक्तिदेवी हैं । भेद है मात्र भाषा और व्याकरण का, परन्तु परमार्थ दृष्टि से पूर्ण अभेद है । वेदोक्त 'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा', गीतोक्त 'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्' और मार्कण्डेय पुराणोक्त 'आधारभूता जगतस्त्वमेका' 'विश्वात्मिका धारयसीह विश्वम्' 'त्वयैतद् धार्यते विश्वम्' वाक्यों की सदृशता इसका एक अपूर्व उदाहरण है । ऋग्वेद के देवीसूक्त में भी शक्ति तत्त्व को इस प्रकार कहा गया है—

'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वेदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥'

मैं रुद्रों और वसुओं के साथ विचरण करती हूँ । मैं आदित्यों और देवों के साथ रहती हूँ । मैं मित्र और वरुण को धारण करती हूँ और मैं ही अग्नि, इन्द्र और अश्विनीकुमारों का आश्रय स्थान हूँ । वह आदिशक्ति समस्त देवशक्तियों का मूल स्रोत है ।

निरुक्ति में भी देवीशक्ति का इस प्रकार परिचय मिलता है– 'महाभाग्याद् देवताया एकः आत्मा बहुधा स्तूयते ।'

अपनी विशिष्ट शक्ति के अनुसार एक ही आत्मा की स्तुति अनेक रूपों में की जाती है।

वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों में भी स्थान स्थान पर देवी-शक्ति का उल्लेख किया गया है—

यदन्तःस्थानि भूतानि यतः सर्वं प्रवर्तते।
यदाहुस्तत् परं तत्वं सैका भगवती सदा ॥ (यजुर्वेद)

यह स्थूल, सूक्ष्म समस्त प्रपञ्च जिस सूक्ष्म स्वरूप में विलीन रहता है और जिसकी इच्छा से सचराचर जगत् के रूप में प्रकट होता है, जो स्वयं 'भगवती' शब्द से कीर्तित है, वही परमतत्त्व है।

यथेदं भ्राम्यते विश्वं योगिभिर्मा विचिन्त्यते।
यद्भासा भासते विश्वं सैका दुर्गा जगन्मयी ॥ (सामवेद)

जिसके द्वारा यह संसार चक्र चल रहा है, योगीजन जिसका सदैव चिन्तन करते हैं, जिसके प्रकाश से यह समस्त जगत् प्रकाशित हो रहा है, वही जगद्व्यापी दुर्गातत्त्व है।

योगवासिष्ठ में भी कहा गया है--

चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेष्वभिदृश्यते।
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु जड़शक्तिस्तथोपले ॥

ब्रह्म की चित्शक्ति चैतन्य शरीर में, स्पन्दन शक्ति वायु में, जड़ शक्ति पत्थर आदि में दृष्टिगोचर होती है।

कूर्मपुराण के अनुसार--'वह देवी ही एक मात्र अद्वितीय, सर्वगामी, सूक्ष्म, कूटस्था, अचल और नित्यस्वरूप हैं। योगीजन उसके उपाधि रहित परमपद के दर्शन करने में समर्थ हैं और वे ही

उसके परात्परतत्त्व, शाश्वत, कल्याणकारी और अविनाशी स्वरूप का अनुभव कर सकते हैं।'

पुराणों में भी जो कुछ है वह वेदों का ही विस्तार है। जो बात वेदों में सूत्र रूप में कही गई है वही पुराणों में विस्तार से वर्णित है। जैसा कि छान्दोग्य की ७।१।२ श्रुति कहती है--

'इतिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदः।'

निगम और आगम दोनों का ही परमलक्ष्य अद्वैतवाद है। आगम का आगमग निगम से होने के कारण आगम के सम्पूर्ण सिद्धान्त निगम पर निर्भर हैं। निगम में 'त्रयीब्रह्म', 'त्रयीविद्या' और 'वेदत्रयी' रूप से ब्रह्म, विद्या और वेद को परस्पर अभिन्न माना गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से तीनों अभिन्न हैं, किन्तु भौतिक दृष्टि से तीनों भिन्न हैं। विश्वसृष्टि में वेद, ब्रह्म और विद्या इन तीनों तत्त्वों का ही आधिपत्य है। शब्दब्रह्म वेदतत्त्व है विषयब्रह्म ब्रह्मतत्त्व है और संस्कारब्रह्म विद्यातत्त्व है। शब्द को सुनकर भी बोध होता है और पदार्थ को देखने पर भी ज्ञान होता है। शब्द सुनने से शब्दाकार का ज्ञान होता है और पदार्थ को देखने से तदाकार का ज्ञान होता है। इस लिए शब्द विषयभेद से दो प्रकार का होता है। जो ज्ञान शब्द पर निर्भर होता है, उसे 'वेद' कहते हैं और जो ज्ञान विषयावच्छिन्न होता है उसे ब्रह्म कहते हैं। वेद और ब्रह्म के अतिरिक्त एक और ज्ञान होता है। शब्द सुनने से और विषय देखने से जो सामान्य ज्ञान होता है, यही आगे चलकर जब विशेष रूप में परिणत हो जाता है, तो उसे 'संस्कार' कहते हैं। शब्द और विषय दोनों ही सामान्य ज्ञान उत्पन्न कर विलीन हो जाते हैं, किन्तु वही सामान्य ज्ञान आगे चलकर जब अनुभव द्वारा विशेष भाव को प्राप्त करता हुआ आत्मा में अङ्कित हो जाता है तो दार्शनिक भाषा में उसको 'अनुभवाहित संस्कार' कहते हैं। वैज्ञानिक परिभाषा में इसी को 'विद्या' कहा जाता है। इसी से भविष्य का व्यवहार मार्ग चलता है।

जबतक संस्कार है तभी तक कोई स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है और संस्कार का अभाव होने पर वह विश्वातीत है, मुक्त है। विश्व की सम्पूर्ण सत्ता संस्कारसत्ता पर टिकी हुई है। अतएव शब्दरूप वेद और विषयरूप ब्रह्म की अपेक्षा संस्कार रूप विद्या ही विश्व की विधायिका है। उसी विद्याज्ञान पर चितिक्रम से संस्कार पुट लगने से विश्व बनता है। जैसे हमारा विश्व हमारा संस्कार है वैसे ही यह महाविश्व उसका संस्कार है। अतएव विश्व विद्यारूप है। संस्कारावच्छिन्न होता हुआ वह ज्ञान मूर्ति विद्या है, शब्दावच्छिन्न होता हुआ वही वेद है और विषयावच्छिन्न बनकर वही ब्रह्म है। उपर्युक्त विश्लेषण से सिद्ध है कि सृष्टि का सम्बन्ध विद्या से है। निगम और आगम दोनों विश्व का निरूपण करते हैं, इसलिए ये दोनों विद्या नाम से प्रसिद्ध हुए। सूर्य, चन्द्र, ग्रह—नक्षत्र, ओषधि, वनस्पति, धातु, रस, विष, कृमि, कीट, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि प्रत्येक पदार्थ एक एक विद्या है, विश्व के अन्तर्गत ये सब क्षुद्र विद्या हैं और सम्पूर्ण विश्वविद्या 'महाविद्या' है। इसी को महाविश्वविद्या भी कहा जाता है। इस महाविद्या को ऋषियों ने दस भागों में बांटा है। निगम में दस अवयव वाली विद्या विराट् विद्या के नाम से प्रख्यात् है। आगम शास्त्र ने दश महाविद्याओं द्वारा बिश्व कैसे उत्पन्न हुआ? उत्पन्न विश्व का क्या स्वरूप है, उस विद्या को समझने से क्या लाभ हैं? उनकी उपासना से क्या उपलब्धि होती हैं? इत्यादि प्रश्नों का समाधान किया है।

विश्व की सृष्टि पुरुष और प्रकृति के समन्वय से हुई है। दर्शनशास्त्र उस पुरुष के 'काल' एवं 'यज्ञ' भेद से दो विवर्त मानता है। कालपुरुष व्यापक है और आदि है तथा यज्ञ पुरुष सादि है, सीमित है। सृष्टि का प्रथम प्रवर्तक काल पुरुष है और काल पुरुष का आश्रय लेकर यज्ञ पुरुष विश्व रचना में समर्थ होता है। यजुर्वेद और उपनिषदों के अनुसार महाकाल के उदर में अनन्त विश्वचक्र

घूम रहे हैं। यजुर्वेद में जिस तत्त्व को 'काल' कहा गया है, उपनिषद् उसे परात्पर कहती है। शतपथ ब्राह्मण परात्पर को सर्वमृत्युधन अमृतत्त्व कहता है। अमृतत्त्व सत्य है और मृत्युतत्त्व असत् है।

'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्'। (श० ब्रा० १०।५।२)
'तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्यबाह्यतः।' (शु.यजुर्वेद ४०।६)

यजुर्वेद के इस कथन के अनुसार दोनों एक दूसरे में ओत-प्रोत हैं। एक निरञ्जन, निर्गुण, शान्त, शाश्वत और अभय है, पूर्ण मृत्युलक्षण है तो दूसरा साञ्जन, सगुण, अशान्त, अशाश्वत, सभय और स्वलक्षण है। वस्तुतः दोनों में से एक सत् है, उसका कभी विनाश नहीं होता। दूसरा असत् है और विनाश उसका स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि सत्-असत् रूप अमृत-मृत्यु की समष्टि ही 'कालपुरुष' है। 'परात्पर' नाम से ख्यात यह विलक्षण तत्त्व 'काल पुरुष' ही है। इसी असीम परस्पर में प्रतिक्षण विलक्षण धर्म वाली माया को शक्ति का उदय होता रहता है। वही माया बल उस असीम 'काल-पुरुष' को ससीम बना देता है, जिसके प्रभाव से वह विश्वातीत, विश्वाकार और विश्व बन जाता है। जो शक्ति काल को यज्ञ रूप में परिणत कर देती है, उसका नाम 'प्रकृति' है। इसी का समन्वय प्राप्त कर वह 'काल पुरुष' अपने कुछ एक प्रदेश से सीमित बनकर कामनाओं के चक्कर में फँस जाता है। एक एक माया से एक एक विश्व चक्र उत्पन्न होता है। मायाबल अनन्त है अतएव उसमें अनन्त विश्व चक्र हैं। उसके रोम रोम में ब्रह्माण्ड समाए हुए हैं। अनन्त विश्वाधिष्ठाता कालपुरुष उन सब पर शासन करता है। सात लोक चौदह भुवन सब 'कालपुरुष' से उत्पन्न हुए हैं।

अब हम अपने मूल उद्देश्य पर आते हैं। अथर्वसंहिता (१९।६।५३-५४) का कथन है कि 'तम' के तीन भेद हैं—अनुपाख्य, निरुक्त और अनिरुक्त। कालारंग, कोयला आदि पदार्थ निरुक्ततम

है इसलिए कि इनका विश्लेषण भलीभाँति किया जा सकता है। आँख बन्द करने पर छा जाने वाला अन्धकार और घोर अंधियारी रात का अन्धकार 'अनिरुक्ततम' है क्योंकि इसका प्रत्यक्षीकरण तो होता है किन्तु निर्वचन नहीं। 'निरुक्त' विश्वसत्ता है और अहः काल है, सृष्टि है। 'अनिरुक्त'–रात्रिकाल–प्रलय है। अहोरात्रि की समष्टि विश्व है – यह 'अनुपाख्य तम' है, जो प्रलय काल में अनिरुक्त तम से ढँका रहता है। इसी को वेद 'पुरुष' कहते हैं – (ऋग्वेद ७-१२९-३)। मायाबल से वही 'कालपुरुष' आप्त काम न रहकर कामनामय बन जाता है। उसकी कामना का 'एकोऽहं बहुस्याम्' यही रूप है। 'कालपुरुष' का हृदय बल कामनामय होकर 'मन' यह नाम धारण कर लेता है। यजुर्वेद के अनुसार 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं' मन हृदय में ही प्रतिष्ठित रहता है और ऋग्वेद के अनुसार 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'। सबसे प्रथम इस मन से विश्वरेत (शुक्ल) भूत कामना का उदय होता है। उसकी इस कामना से पञ्चन् क्रम से पहले वेद नाम के पुरञ्जन का प्रादुर्भाव होता है। वेद चार प्रकार के हैं – ऋक्, यजु, साम और अथर्वण। त्रयी वेद अग्निवेद हैं और अथर्व सोमवेद है। त्रयीवेद स्वायम्भुव ब्रह्म है और अथर्व परमेष्ठयसु ब्रह्म है। ब्रह्म आग्नेय होने से पुरुष है और सुब्रह्म सौम्य होने से स्त्री है। त्रयी ब्रह्म के मध्य पतित यजुः भाग में 'यतञ्जूदो' तत्त्व है। -यत् गति तत्व है। यह प्राण और वायु नाम से प्रसिद्ध है। 'जू' स्थिति तत्व है, यही वाक् और आकाश नाम से प्रसिद्ध है। प्राण, वाक्-वाह्याकाश रूप स्थिति गति तत्व की समष्टि यजुर्वेद है। प्राणरूप 'यत्' से काम, तप से वाक्, जू भाग से सर्वप्रथम जल उत्पन्न होता है। इसी की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण (६।१।३) में मिलती है—

'सोऽपसृजत वाच एवं लोकात् वागेवमासृजत्।'

त्रयी ब्रह्म के वाक् भाग से उत्पन्न इसी 'आप' तत्व का नाम अथर्ववेद है। यजुः रूप स्वायम्भुव का पसीना ही अथर्वरूप सुब्रह्म है। (गोपथ ब्राह्मण १।१।१)।

इस प्रकार ऋक्, यजु, साम, 'यत्' 'जू' भेद से चतुष्कल हो जाता है। दूसरा आपोमय सोम अथर्व है। यह भृगु और अङ्गिरा भेद से दो भागों में विभक्त है। घन-तरल-विरल-इन तीन अवस्थाओं के कारण भृगु 'आप', 'वायु' और 'सोम' इन तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। इस प्रकार आपोवेद 'षट्कल' हो जाता है। भृगु-अंगिरा रूप आपोवेद के साथ चतुष्कल त्रयी वेद का समन्वय होता है – उक्त षट्कल सुब्रह्म सौम्य होने से स्त्री है और आग्नेय चतुष्कल त्रयी ब्रह्म पुरुष है। दोनों के मिलन से ब्रह्म-सुब्रह्मात्मक विराट पुरुष का जन्म होता है। वह वेदमूर्ति पूर्ण पुरुष अपने आपको इन्ही (षट्कल और चतुष्कल) दो भागों में विभक्त कर विराट् को उत्पन्न करता है। इस प्रकार हमें वेद में दशाक्षर विराट् के दर्शन होते हैं। शतपथ ब्राह्मण (१।१।२) में 'दशाक्षर वै विराट्' कहा गया है। ऋक्, साम, यत् – जू, आप, वायु, सोम, यम, अग्नि, और आदित्य भेद से वह विराट् दशकल है।

सृष्टिकर्ता दशाक्षर विराट् पुरुष ही का दूसरा नाम 'यज्ञ पुरुष' है। इसी से सारी सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इसी लिए इसे 'प्रजापति' कहा जाता है। विश्वरूप विराट प्रजापति दशावयव है, इस लिए इस प्रजापत्या विश्वविद्या को निगम–आगम के आधार पर दशावयव माना जाना उपयुक्त है। इन्हीं को दशहोता, दशाह आदि नामों से पुकारा जाता है। शतपथ ब्राह्मण (११।१।२।४) के सूत्र 'न्यूनाद वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते'– के अनुसार न्यून विराट् से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि पुरुष और स्त्री के संयोग से सृष्टि होती है न कि पुरुष-पुरुष या नारी-नारी के मिलन से। पुरुष आग्नेय है और स्त्री सौम्य है। सौम्य होने के कारण स्त्री आग्नेय पुरुष की भोग्या है। इस लिए स्त्री पुरुष की अपेक्षा न्यून होती है। इस न्यून सम्बन्ध से ही प्रजाओं की उत्पत्ति होती है। निष्कर्ष यह निकला कि दशाक्षर पूर्ण विराट् से सृष्टि नहीं होती, नवाक्षर के न्यून विराट् से ही सृष्टि होती है। एक

अक्षर कम हो जाने पर भी विराट् का विराटत्व अक्षत बना रहता है ।

'न वै एकेनाक्षरेण छन्दोसि वियन्ति न द्वाभ्याम् ॥'

सर्व प्रथम कुछ भी नहीं था, केवल शून्य बिन्दु मात्र था । बिन्दु का अर्थ पूर्ण है । यह बिन्दु उन ब्रह्माक्षरों का प्रथम रूप है, जिनसे नवाक्षर का विराट् उत्पन्न होता है । शून्य से ही १ से लेकर ९ तक की संख्याएं विकसित हुईं । नव पर संख्या समाप्त हो जाती है और फिर १ का शून्य से सम्बन्ध होने पर १० संख्या बनती है । १, २, ३ किसी भी संख्या का संकलन फल समान नहीं आता, वही ९ शेष रह जाता है, अत: दसवां वही महत्त्वपूर्ण है और वही महाकाल नाम का विश्वातीत परात्पर है । उस शून्यरूप पूर्ण पुरुष के उदर में नवां अक्षर विराट् समाया हुआ है । उसी पूर्णरूप को दसवाँ प्रतिष्ठा नाम अह: बतलाया गया है । इसी पूर्णब्रह्म का निरूपण श्रुति इस प्रकार करती है–

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् ।
यस्मान्नणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् ॥
वृक्ष इवस्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक: ।
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

दस (१०) संख्या का शून्य अंक स्वतन्त्र विभाग है और वही बिन्दु है और ९ का जो विभाग है, वही विराट है । इस वैज्ञानिक विवेचन से सिद्ध है कि वेदोक्त सृष्टि विद्या दस भागों में विभक्त है । एक ही पुरुष दस पुरुष बन रहा है । पुरुष प्रकृति से सम्बद्ध है, इस लिए निगम मूलक आगम शास्त्र सृष्टि विद्यारूपा इन दस शक्तियों का निरूपण करता है । वही शक्तिप्रपञ्च दशमहाविद्या नाम से प्रसिद्ध है । उसी महाकाल पुरुष की शक्ति महाकाली कही जाती है ।

इतने लम्बे विवेचन के पश्चात् सिद्ध हो गया कि आगम निगम मूलक ही है, तन्त्र और वेद आपस में एक दूसरे के पूरक होने के साथ साथ परस्पर में ऐसे जुड़े हुए हैं कि उनके कार्य क्षेत्र का विभाजन कर सकना व्यवहारिक दृष्टि से सर्वथा असम्भव है। कूर्म-पुराण में आगम और निगम की अभिन्नता और पारमार्थिक एक-रूपता समझने के लिए भगवती के मुख से देवात्मा हिमालय को यह कहना कितना सारगर्भित है–

'ममैवाज्ञा पराशक्तिर्वेद संज्ञा पुरातनी।
ऋग्यजुः सामरूपेण सर्गादौ संप्रवर्तते॥'

ब्रह्म का प्रधान मन्त्र प्रणव (ओंकार) है और माया का मुख्य मन्त्र मायाबीज, ह्रींकार है। तैत्तरीय संहिता में 'ह्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' का उल्लेख इस अभिप्राय को बताने के लिए किया गया है कि ब्रह्म और माया कहने के लिए दो पदार्थ हैं, वास्तव में वे एक दूसरे से पूर्णतः अभिन्न हैं। बृहदारण्यक की भी श्रुति है––' **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयः।'**

इसी मायाबीज का उल्लेख रकार को हटाकर ह्रस्व इकार के साथ सामवेद में भी किया गया है—**पृथ्वी हिंकारो आदित्यो हिंकारो द्यौर्हिकारः पुरोवातो हिंकारः प्रजापतिर्हिकारउद्यर्न्हिकारो मनो हिंकारः।**

मायाबीज को हिंकार कहने की पुष्टि भुवनेश्वरी संहिता के इस वाक्य से भी होती है–

'सामसु प्रथमाभक्ति हिंकारो मे मनुर्गतः।
ह्रस्वेकारयुतं तत्तु मायाबीजं प्रचक्षते॥'

माया और ब्रह्म के स्वरूप के परिचायक इन श्रुति-स्मृति वाक्यों से सिद्ध होता है कि ब्रह्म के जितने नाम ध्रुव, तार इत्यादि

प्रचलित है वे सब उसका परिचय कराने वाले प्रणव के ही नाम हैं, जैसा कि योगदर्शन का भी कथन है – "तस्य वाचकः प्रणवः" । इसी भांति मायाबीज के भी जितने नाम हैं वे सबके सब ह्रिंकार के ही वाचक हैं। जैसा कि कथन भी हैं –

'मायाबीजस्य नामानि मालिनी शिववल्लरी ।
मायामूर्तिः कलावाणी बीजशक्तिश्च कुण्डली ॥'

ब्रह्म और माया का तादात्म्य अथवा अभिन्नता ही अद्वैतवाद की मूल कल्पना का आधार है। इसलिए 'प्रणव' और 'मायाबीज' केवल ब्रह्म और माया के ही वाचक न होकर एक दूसरे के वाचक माने जाते हैं। आचार्य शङ्कर की भी उक्ति इस मत की पुष्टि करती है-

'तदा तां तारमित्याहुरोमात्मेति बहुश्रुताः ।
तामेव शक्तिं ब्रुवते ह्रीमात्मेति चापरे ॥'

आगम में जिसे बिन्दु कहकर व्यवहार किया जाता है उसका मूल इन दोनों बीजों का सम्मिलित रूप है। शारदातिलक के अनुसार बिन्दु की उत्पत्ति इस प्रकार है – 'असीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दु समुद्भवः ।' प्रणव के देवता शिव या रुद्र और मायाबीज की देवता भुवनेश्वरी कहलाती हैं। इसीलिए मायाबीज को भुवनेश्वरी बीज भी कहते हैं। मायाबीज का वाच्य बिन्दु है। बिन्दु से ही क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति के रूप में रौद्री, ज्येष्ठा और वामा शक्तियाँ प्रकट होती हैं। इनके द्वारा ही अनन्त शक्तियों का आविर्भाव होता है। तान्त्रिक उपासना का आधार बिन्दु ही माना जाता है। आगम और निगम दोनों में ही निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु निर्गुण ब्रह्म का कोई आधार न होने से उसकी उपासना कैसे सम्भव हो सकती है? अतएव सगुण रूप की कल्पना भी दोनों ही शाखाओं में की गई है। यहाँ पर महात्मा तुलसीदास का यह कथन युक्तिसंगत बैठता है –

'हरित भूमि तृण संकुलहिं, समुझि परै नहिं पंथ ।
जिमि पाखण्ड विवाद तें, लुप्त होंइ सद्ग्रन्थ ॥'

'जन्माद्यस्य यतः' इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार क्रियाएँ कारण ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में उपचरित होती हैं अर्थात् कारण ब्रह्म के ही ये नाम हैं। मैत्रायणी उपनिषद् में यह बात स्पष्ट की गई है -

'अथ यो ह खलु वा वास्य राजसोंऽशोऽसौ, स योऽयं ब्रह्मा। अथ यो ह खलु वा वास्य तामसोंऽशोऽसौ, स योऽयं रुद्रः। अथ यो ह खलु वा वास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ, स योऽयं विष्णुः।'

अस्तु, उपासना को सुलभ बनाने के लिए निराकार ब्रह्म को साकार में परिणत किया गया है। आगम और निगम की मूल-भित्ति मुख्यतः वर्णाश्रम धर्म पर आधारित मानी गई है। शैली और प्रक्रिया के कारण उनमें बाह्य दृष्टि से कुछ अन्तर दिखाई देता है, परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। आगमों के समान ही पञ्चदेवों की गायत्री वेद में भी उपलब्ध होती हैं। आगम और निगम के आचार-विचार और आर्ष परम्पराओं को देखते हुए सामान्यतः दोनों की एकवाक्यता शास्त्रसम्मत है। विशुद्ध वैदिकमार्ग के अनुगमन का अधिकार केवल त्रैवर्णिकों के लिए है। वेदोक्त आचार-विचार के उल्लङ्घन की अनुमति किसी भी दशा में शिष्टसम्मत नहीं मानी गई है। अतएव महर्षि वेदव्यास ने वेदार्थ के रहस्यों की गम्भीरता की ओर संकेत करते हुए उनके विश्वजनीन सिद्धान्तों को जानने और समझने के लिए सन्तुलित और व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया है। यथा--

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

प्रामाणिक तन्त्रों को जोड़कर, अन्य वेदवाह्य तन्त्रों के एकदेशीय होने के कारण उन्हें आचरण करने की वेद आज्ञा नहीं देता। इसी लिए डामरतन्त्रों को उपासना का विषय नहीं माना गया है। ऐसे तन्त्रों से साध्य--साधन की पवित्रता और प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग के प्रति लोक आस्था में ह्रास आना भी निश्चित है। इस प्रसङ्ग में गीता के इस उपदेश को ध्यान में रखना आवश्यक है--

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामचारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम्॥
(गी. १६-२३)

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार वेद की भाँति तन्त्र भी स्वतः प्रमाण माने गए हैं--

तस्मात् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलागमं प्रिये।

श्रुति के स्वरूप की ही भाँति आगम के स्वरूप का भी परिचय विभिन्न ग्रन्थों में इस प्रकार दिया गया है--

सिद्धिं सिद्धैः प्रमाणैस्तु हितं चात्र परत्र च।
आगमः शास्त्रमाप्तानामाप्तास्तत्त्वार्थ वेदिनः॥

'सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥

मुण्डकोपनिषद् की इस श्रुति के अनुसार--

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।'

वैदिक परमार्थतत्त्व का उपदेश और रहस्य गुरुमुख से ही जाना जा सकता है। ठीक इसी श्रुति के अनुरूप आगमों की श्रुति

भी कहती है-'तज्ज्ञानार्थं गुरुमेव समाजयेत।' निगम और आगम दोनों ही शाखाओं में अयोग्य व्यक्तियों के सम्मुख परमार्थतत्त्व के प्रकाशन को अनुचित माना है और कठोर प्रतिबन्ध लगाया है। इसी लिए शास्त्र की अवहेलना करने वाला प्रत्यवाय का भागी बनता है। श्रुति भी कहती है--

'विद्या ह वै ब्रह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिस्तेऽमस्मि।
असूकाय अनृजवे न मा ब्रूया अवीर्यवती यथा स्याम्॥'

वेद के इस निर्देश के ही अनुरूप आगम भी विद्या को 'कुल-वधू' की संज्ञा देता है।

वैदिक धर्म सात्विक विचारधारा का पोषक है क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान का उद्रेक सदैव सात्विक भावों में ही सम्भव है। हमारे प्रातः स्मरणीय गुरुवर्य श्री स्वामीजी महाराज ने शुद्ध वैदिक शाक्ताचार जिसको समयाचार अथवा शुद्ध दक्षिणाचार भी कहा जाता है, का ही प्रचार-प्रसार किया, अपने शिष्यों को अपने अनुग्रह की पात्रता प्रदान की। इसी लिए हमारी परम्परा के अनुयायी अपने को स्मार्त और शाङ्कर मत के अनुयायी शाक्त मानते हैं। हमारी यह परम्परा भी आगम और निगम के समन्वयात्मक स्वरूप का एक जागृत चित्र है। आलोचनात्मक दृष्टिकोण से लिखे गए सन्त कबीर के निम्नांकित वाक्यों से भी वेद और तन्त्र की एकरूपता की ही पुष्टि होती है—

'अन्तर ज्योति शब्द एक नारी। हरिब्रह्मा ताके त्रिपुरारी।
ते तिरिये भगलिङग अनन्ता। तेउ न जानै आदिउ अन्ता॥
जीवरूप एक अन्तर बासा। अन्तर ज्योति कीन्ह परकाशा।
इच्छारूपि नारि अवतरी। तासु नाम गायत्री धरी॥
तेहि नारि के पुत्र तीन भयऊ। ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नाऊं।
वेद कितेब कीन्ह विस्तारा। फैल गैल मन अगम अपारा॥'



आगम-निगम समन्वय

लेo- राममूर्ति त्रिपाठी
उज्जैन

निगम और आगम- भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत हैं और भारतीय संस्कृति 'समन्वयी' मानी जाती है, न कि 'सामासिक'। अपनी प्रकृति के अनुसार भारतीय संस्कृति के उन्नायकों ने यदि कहीं इनमें विरोध देखा भी, तो उसका समन्वय कर लिया और इस समन्वय की फलीभूत परिणति हमारे सामने है। इस सन्दर्भ में मुझे अपनी ओर से कम कहना है और तत्सम्बन्धी प्रयास को अधिक दुहराना है। समन्वय का अर्थ है- अन्वयगत सम्पक्त। अन्वय अर्थात् सम्बन्ध को ठीक-ठीक बिठा देना। सम्बन्ध दो के बीच जब 'अतियों' या 'विकृतियों' से अयथास्थान हो जाय- बिगड़ जाय- तब उसे यथास्थान लाना पड़ता है। ये दो हैं- हमारा मूल मन्तव्य और उस तक पहुंचने वाले मार्ग। भारतीय संस्कृति के उन्नायक तत्वदर्शियों में समन्वय की अभूतपूर्व क्षमता रही है- फलतः उन्होंने ऊपरी भेदभाव को नजरन्दाज करते हुए तमाम मार्गों की उपयोगी पद्धतियों में 'मन्तव्य' के अनुरूप सम्भावना देखकर सम्बन्ध ठीक कर लिया है। राष्ट्र की संस्कृति राष्ट्र की वह जीवनी शक्ति है जो अपनी प्रकृति-गत सम्भावनाओं को सार्वभौम सत्य तक पहुंचाने में अनुरूप और विरूप तत्वों का खुली दृष्टि से आदान और विसर्जन करती चलती है। सम्प्रति हमारी यह सांस्कृतिक पाचनशक्ति कमजोर पड़ गई है- इसी लिए इसकी चिन्ता प्रासंगिक और सामयिक है।

आगम और निगम के स्वरूप पर विचार तात्विक और ऐतिहासिक- दोनों दृष्टियों से किया जाता है। एक ओर ऐतिहासिक दृष्टि से किए गए विचारों को आत्मसात कर कविराज गोपीनाथ, आचार्य क्षेमेश चन्द्र चट्टोपाध्याय तथा डा. शशिभूषण दास गुप्त-आदि मनीषियों ने माना है कि आगमिक साधना पद्धति- 'गुह्य साधना पद्धति' भारत के बाहर भी मिस्र, क्रीट, एशिया माइनर तथा मध्य एशिया आदि में फैली हुई थी। इस पद्धति के साधकों का सरस्वती और दषद्वती के तटों पर पनपने वाले नैगमिक साधकों से सम्पर्क हुआ और दोनों एक-दूसरे से लाभान्वित हुए। इन विद्वानों ने दोनों प्रस्थानों की सहवर्तिता के प्रमाण ढूंढ निकाले हैं। दूसरी ओर तात्विक दृष्टि से विचार करने वालों के प्रतिनिधि आचार्य भर्तृहरि भी यही कहते हैं--

न जात्वकर्तृत्वं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते।
बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवादौ व्यवस्थितम्॥
(वा.प.प्र.का.)

अर्थात् कोई भी आगमों को अकर्तृक नहीं मानता। त्रयी अर्थात् वेद ही आगमों का मूल है। पूर्वागमों के उच्छिन्न हो जाने पर वेद में ही बीज रूप से सन्निविष्ट रहने के कारण उन्हीं के आधार पर आगमान्तरों का निबन्धन किया जाता है- अतः उनकी भी प्रवाहानादिता सिद्ध होती है और आगम (परम्परा प्राप्त) संज्ञा भी अन्वर्थता पा जाती है। व्याकरण के आचार्य का प्रातिनिध्य इस सन्दर्भ में अधिक उपयुक्त इसलिए है कि एक तरफ 'व्याकरण' वेद या निगम के अंगों में 'मुख' स्थानीय है और दूसरी ओर आगम की परावाक्वाली धारा को धारण करती है। यह अवश्य है कि शब्द ब्रह्मवादी 'पश्यन्ती' को ही परावाक् कहते हैं, जबकि आगम चरम तत्व की स्वरूपभूत शक्ति के रूप में समझते हैं। प्रमाण ही नहीं, तर्क से भी आगम-निगम-समन्वय की पुष्टि होती है। आगमस्वच्छन्दोद्योत में आगम की परिभाषा दी गई है - "आसमन्तात्

गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमिति कृत्वा पराशक्तिरेव आगमः, तत्प्रतिपादकस्तु शब्द सन्दर्भः, तदुयापत्वात् शास्त्रस्य" – अर्थात् अभिधा में आगम बोधात्मा परावाग्रूपा वह शक्ति ही आगम है, जो पारमेश रूप का अभेदेन परामर्शन करती हैं। ग्रन्थ क्या शास्त्र तो उसका प्रतिपादन करने के कारण उपचारतः 'आगम' कहे जाते हैं। वागाम्भृणीसूक्त (१०।१२५) में जिस शक्तितत्व का प्रतिपादन है, शक्तितंत्र उसी के भाष्यभूत माने जा सकते हैं। विभेद अवान्तर मान्यताओं तथा आचार में है। पं० विद्यानिवास मिश्र भी कहते हैं – "भर्तृहरि के शब्दब्रह्मवाद की गहराई में जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वैदिक चिन्तन और आगमिक चिन्तन को जोड़नेवाली एक कड़ी है"। (भारतीय भाषादर्शन की पीठिका, पृष्ठ ५)। पण्डित जी की धारणा है कि वस्तुतः यह तत्वदर्शन शैव प्रत्यभिज्ञा और निम्बार्क के द्वैताद्वैत के मध्य बिन्दु पर अवस्थित है। आगम से जिस शक्तिवाद की स्थापना होती है और जिस तरह आगम का वह असाधारण व्यावर्तक तत्व बनता है – उसका संकेत वैदिक ऋचाओं और उपनिषदों में स्पष्ट मिलता है। ईशावास्य में स्पष्ट कहा गया है – "तदेजति तन्नेजति"।

चरम सत्ता स्पन्दनशील भी है और स्पन्दातीत भी। प्रथम विश्वात्मक है और द्वितीय विश्वातीत। निष्कर्ण यह कि तात्विक स्तर पर 'आगम' की जो असाधारण पहचान है-चिन्मय शक्तिवाद, उसके बीज 'निगम' में उपस्थित हैं। इसी लिए तात्विक दृष्टि से निगम और आगम के स्वरूप पर विचार करते हुए जब कविराज गोपीनाथ कहते हैं—निगम और आगम–दोनों शब्दात्मक होने पर भी दिव्य तथा अपौरुषेय ज्ञान के ही प्रकार हैं–तब उनके स्वरूप की दृष्टि से एकता ही सिद्ध होती है—अन्तर दोनों की कार्यप्रणाली में है। बहिर्मुखी दृष्टि से वेद शब्द से चाहे जो तात्पर्य निकाला जाय-- पर तत्वतः वेद का स्वरूप अतीन्द्रिय शब्दात्मक सूक्ष्म ज्ञान विशेष है। इसी लिए 'पुराकल्प' में लिखा है--

'यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचम् ऋषयः साक्षात्कृतधर्माणः मन्त्रदृशः पश्यन्ति, ताम् साक्षात्कृतधर्मेभ्यः परेभ्यः प्रतिवेदयिष्यमाण विल्मं समामनन्ति स्वप्ने वृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिरख्यासन्ते।'

अर्थात् जिन्होंने धर्मतत्त्व का साक्षात्कार किया है, वे ऋषिगण इन्द्रियातीत सूक्ष्मा वाक् का दर्शन करते हैं। जिन्हें धर्म तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ, वे उसका दर्शन नहीं कर सकते। ऐसे लोगों को सूक्ष्मा वाक् का संवेदन कराने के लिये ऋषिगण उस अतीन्द्रिय वाणी को इन्द्रियजन्य वेद--वेदांग के रूप में प्रकट करते हैं। यह वेद--वेदांग ही 'विल्म' पद का वाच्य है। स्वप्नानुभूति को प्रकाशित करने के लिए जैसे स्थूलइन्द्रियगोचरा वाणी का प्रश्रय लिया जाता है, वैसे ही अतीन्द्रिय सूक्ष्मावाक् का निरूपण भी आवश्यक है। यह सूक्ष्म वाक् परावाक् ही है। वेद इसी अतीन्द्रिय परावाक् का अवतीर्ण रूप है-स्वरूप नहीं, क्योंकि मन्त्रद्रष्टा को छोड़कर अन्य के सम्मुख वेद रूप--स्वरूप प्रकाशित हो -ऐसा सम्भव ही नहीं है। वस्तुतः वेद एक ओर स्वरूपतः अभिन्न है—वह वागात्मक नहीं-बोधात्मक है-किन्तु अभिव्यक्ति काल में वागात्मक होकर यह शब्दक्रम से प्रकाशित होता है। प्रचलित वेद--विभिन्न रूपों से आम्नात हैं-ये उस अनाम्नात अखण्ड वेद के अनुकरण मात्र हैं। आचार्य भर्तृहरि भी प्रचलित वेदों को अनुकार ही कहते हैं।

एक की प्रणाली संस्कार सापेक्ष द्विज द्वारा 'यजन' की है जबकि दूसरे की संस्कृत-असंस्कृत सार्ववर्णिक अन्तर्योग की। पहले का ध्यान उत्तरोत्तर लोकमंगल से परमार्थ की ओर जाता है – दूसरा शक्ति साधन के सन्दर्भ में उतनी छूट दे देता है कि उससे अतियां और विकृतियां उत्पन्न होती हैं और विरोध की स्थिति पैदा हो जाती है। समन्वय की चिन्ता बढ़ जाती है – स्वैराचार की वृद्धि से सन्मार्ग और सद्धर्म बाधित होने लगते हैं – आचार्यों को खण्डन करना पड़ता है।

इतना होने पर भी पारम्परिक वाङमय में कहीं निगमानुयायी आचार्य आगमों का विरोध करते हैं और कहीं आगमानुयायी शाण्डिल्य जैसे महर्षि निगमों की अपर्याप्तता बताते हैं। एक तरफ आचार्य शंकर अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में 'उत्पत्त्यसंभवात्' 'विप्रतिषेधाच्च' तक जो कुछ कहते हैं,उससे आगम (पाञ्चरात्र) का खण्डन करते हुए उसकी मान्यताओं को असंगत बताते हैं जबकि दूसरी ओर 'भाष्य' और 'रत्नप्रभा' टीका के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि शाण्डिल्य आदि आगमिक वेद की अपर्याप्तता बताकर उसका विरोध करते हैं –

(क) चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान् इत्यादिवेदनिन्दादर्शनात् ।

(शाङ्करभाष्य, २।२।८।४५)

(ख) एकस्याऽपि तन्त्राक्षरस्याध्येता चतुर्वेदिभ्योऽधिकः इति निन्दापदार्थः ।

म. म. कविराजजी का पक्ष है कि यह वेद-विरोध नहीं – वस्तुवाद है। अपने पक्ष की पुष्टि करते हुए कविराजजी कहते हैं – पांचरात्र अथवा भागवतधर्म भक्तिप्रधान है। वैदिक साहित्य में भक्ति की चर्चा अधिक नहीं है। यद्यपि कई लोग वैदिक उपासना का भक्ति के स्थान में ग्रहण कर लेते हैं। किसी अंश में यह ठीक भी है तथापि 'भक्ति' शब्द का जो वाच्यार्थ है, वह वैदिक कर्मकाण्ड अथवा ज्ञानकाण्ड या उपासनाकाण्ड में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। यद्यपि एकायन मार्ग आदि का निदर्शन वैदिक साहित्य में भी है तथापि इसके बहुल प्रचार का प्रमाण वैदिक ग्रन्थों में दिखाई नहीं पड़ता। करपात्री जी अवेदमूलक को मान्यता नहीं देते फलतः भक्ति को वेदमूलक सिद्ध करते हैं। इस विरोध के समन्वय के संदर्भ में यही कहना है कि एकत्र उसके संकेत हैं और अन्यत्र पल्लवन। गोस्वामी तुलसीदास भी 'श्रुतिसंमत हरिभक्ति' की बात करते हैं जबकि शाण्डिल्य-नारद समर्थित 'साध्य' भक्ति के वे कट्टर उपस्थापक हैं।

विद्वानों का विचार है कि वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'ज्ञान' का क्रियात्मक या विधानात्मक आचार आगमों का मुख्य विषय है। आगम तथा निगम के परस्पर संबन्ध को सुलझाना एक विषम समस्या है। तंत्र ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तंत्र या आगम दो प्रकार के हैं–वेदानुकूल तथा वेदबाह्य। कतिपय तंत्रों के सिद्धान्त तथा आचार का मूल स्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है। पाञ्चरात्र तथा शैवागम के कतिपय सिद्धान्त वेदमूलक अवश्य हैं यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें वेदबाह्य ही माना गया है। शास्त्रों के सप्तविध आचारों में वामाचार ही अपनी घृणित पद्धति के कारण अवैदिक माना जाता है। अन्य वेदबाह्य आगमों के विषय में भी कहा गया है–

अन्यानि चैव शास्त्राणि लोकेऽस्मिन् मोहनानि वै।
वेदवादविरुद्धानि मयैव कथितानि तु।
वामं पाशुपतं सोमं लाङ्गलं चैव भैरवम्।
न सेव्यमेतत्कथितं वेदबाह्यं तथेतरत्॥ (कूर्मपुराण)

वायुसंहिता में स्पष्ट ही कहा है–

शैवागमोऽपि द्विविधः श्रौतोऽश्रौतश्च संस्मृतः।
श्रुतिसारमयः श्रौतः स्वतन्त्र इतरो मतः॥

और अन्ततः निष्कर्ष यह है–

यानि शास्त्राणि दृश्यन्ते लोकेऽस्मिन् विविधानि तु।
श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि निष्ठा तेषां हि तामसी॥

अर्थात्–आगम श्रुति-अविरोधी भी हैं और श्रुति-विरोधी भी। जो तामसी प्रकृति के हैं--उनके लिए वैसे आगम कहे गए हैं--वहां तो स्पष्ट ही समन्वय की संभावना नहीं है।

इसी प्रकार 'आगमरहस्य' की प्रस्तावना में श्री गंगाधर द्विवेदी ने ठीक कहा है– आगम और निगम के आचार-विचार और आर्य परम्पराओं को देखते हुए सामान्यतः दोनों की एकवाक्यता शास्त्र-संमत है। किन्तु विशुद्ध वैदिक मार्ग के अनुगमन का अधिकार केवल त्रैवर्णिकों के लिए है। श्रुति-अनुरोधी तंत्र प्रामाणिक हैं– वे तो मान्य हैं, परन्तु अन्य वेदबाह्य तंत्र– जिनकी सूची काफी लम्बी-चौड़ी है- एकदेशीय होनें से इसके अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता। उनमें निर्दिष्ट साधन और आचार-विचार इतने उटपटांग हैं कि वर्णाश्रम धर्म के नियमों की एकान्ततः अवहेलना करते हैं, और इसके साथ मेल नहीं खाते। इनमें लिंगायत और पाशुपत आदि तंत्रों को इसी की श्रेणी में गिना जाता है।

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार श्रीकण्ठाचार्य ने स्पष्ट कहा है– 'उभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ।' इस भाष्य के टीकाकार अप्पय दीक्षित ने 'शिवार्कमणिदीपिका' में तंत्रों को वैदिक और अवैदिक– दो भागों में बांटकर– एक वेदाधिकारियों के लिए, दूसरा उसके अनधिकारियों के लिए बताया है। मतलब यह कि आगमों की प्रामाणिकता अधिकार भेद से है।

कुलार्णवतन्त्र तो आगम को निगम की भांति स्वतःप्रमाण मानता है– 'तस्मात् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलागमं प्रिये'। मनु-स्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट अपनी 'मन्वर्थमुक्तावली' में कहते हैं– "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। श्रुति प्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा-वैदिकी तान्त्रिकी च।" शास्त्रदर्शन के सुप्रसिद्ध आचार्य भास्करराय ने तंत्रों को श्रुति का अनुगामी होने से परतःप्रमाण माना है। वे तंत्रों को स्मृतिशास्त्र के अन्तर्गत मानकर ही उनका प्रामाण्य स्वीकार करते हैं–

तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः। (वरिवस्यारहस्य)

वे ही 'ललितासहस्रनाम' के 'सौभाग्यभास्कर' में कहते हैं—

'परमार्थतः तु तन्त्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्डशेषत्वमिति सिद्धान्तात् ।'

अभिप्राय यह कि तंत्र और स्मृतियों में प्रामाण्य की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, किन्तु स्मृतियों का अंतर्भाव कर्मकाण्ड में और तंत्र का ज्ञानकाण्ड में माना जाना चाहिए। जहां तक 'शारदा-तिलक' के टीकाकार राघवभट्ट का संबन्ध है— उन्होंने भी तंत्रों को स्मृतिशास्त्र के समान मानते हुए उसे वेद के तृतीय काण्ड–उपासना काण्ड के अन्तर्गत माना है।

इससे स्पष्ट है कि मान्यता का प्रकार भले ही अलग--अलग हो, किन्तु सिद्धान्त रूप से इसकी प्रामाणिकता में सभी पक्षों की सहमति है।

स्वामी करपात्री जी ने तो पंच मकारों तक के विषय में बड़ी उत्तम उपपत्ति दी है। उनका कहना है कि 'विधान' उसका होता है, जो 'रागतः' प्राप्त नहीं होता। यदि इनका 'विधान' है तो किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के अंग रूप में है—जहां 'रागतः' प्रवृत्ति नहीं होती।

निष्कर्ष रूप में निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं—

(१) आगम और निगम तत्त्वतः शब्दात्मक बोधरूप हैं--उनकी अवान्तर मान्यताओं और आचारों में भेद ही हो सकता है। जो निगम को सैद्धान्तिक और आगम को व्यावहारिक मानते हैं, वे तो पूरक ही मानतें हैं।

(२) ऐतिहासिक दृष्टि से भी दोनों धाराओं का परस्पर संभेद सिद्ध होता है-जो समन्वय की दिशा में भी संभव हुआ होगा।

(३) आगम को कतिपय आगमिक शिवप्रोक्त अथवा अनादि होने के कारण कभी-कभी स्वतःप्रमाण और कतिपय श्रुति को ही वैदिकी तथा तान्त्रिकी बताते हैं। कुछ एक आचार्यगण आगमों को श्रुति-अनुसारी रूप को स्मृति के समान परतःप्रमाण मानते हैं और बहुत से वर्णाश्रम धर्म विरोधी आगमों को स्पष्ट ही वेदबाह्य कहते हैं-वहां समन्वय की कोई संभावना नहीं देखते।

(४) वेद समुन्नतमनस्क संस्कारी साधकों का व्यक्त मार्ग है। यजन मार्ग है, जबकि आगम राग के स्तर पर जीने वाले संस्कृत-असंस्कृत सामान्य जनों का अधिकारभेद से निर्दिष्ट गुह्य मार्ग है। आगमों में निम्न और उच्च लक्ष्यों के अनुरूप भी आचार निर्दिष्ट हैं-निम्न मार्गी तामसी प्रकृति के आचार स्पष्टतः वेदबाह्य और समन्वय की भावना से दूर हैं जबकि उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्य 'भक्ति' के क्षेत्र समन्वय की संभावना है। वेदों में चाहे कर्म-काण्ड के अंगभूत देवस्तुति की तह में निहित भक्ति हो अथवा क्रम मुक्ति के संदर्भ में सगुणोपासना के क्षेत्र में उभयत्र भक्ति अंग ही है अंगी नहीं, पर आगम में इसका 'अंगी' रूप में पर्याप्त पल्लवन है। संकेत के रूप में लोग इसे 'एकायन' अथवा (लुप्त) काण्वशाखा से जोड़ते हैं। मधुविद्या में उसकी जड़ें ढूंढ़ते हैं।



Tantra & Agama : A Samanvaya

by Shri B. S. Krishnan (Nagpur)

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ।।

(अथर्ववेद)

"Eighteen **chakras**, nine holes, divine city **Ayodh*ya*,** in the midst golden cover, heaven is lustre-covered." This body is **yantra. Mantra, yantra** and **tantra** are the three points of an equilateral triangle. The line is a series or points. Even Shri Ramakrishna Paramahamsa says, **'ami yantra, tumi yantri'** ! This body is a vehicle to realise the identity of the **Jiva** with the **Brahman. Yantra** is vehicle also.

We recollect a stanza here from the **Saundarya-lahari** of **Adi Shankara:** चतुःषष्टया तन्त्रैः सकलमतिसंधाय भुवनम् । There are sixty-four tantras. Through practice of each tantra (= method), one can get a particular **siddhi** or power. But is it the goal ? Definitely not. To realise the ultimate divinity and to identify completely in all respects is the object of any practice. Power corrupts. **Mantra** is energy content in words. Even in **Patanjali's 'yoga-sutra** it is said that जन्म-मन्त्र-तप-औषधिसमाधिजाःसिद्धयः and तेऽन्तरायाः। These powers developed through practice of various **tantras** are obstacles in the path of realisation of one's self.

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । श्रीचक्र is **yantraraja.** पञ्चदशाक्षरी is **mantraraja.** There is no **tantraraja.** But **Saundarya-lahari** is **stotraraja.** अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म; and तत्त्वमसि are four **mahavakyas.** By practising these, **sadhakas** identify with the **parabrahman.**

Tantra in other scriptures and works :

In the **Lalitasahasranama, devi Lalita** is described as महातन्त्रा । The **Saundaryalahari** stanza 31 reads:

चतुःषष्टया तन्त्रैः सकलमतिसंधाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः ।
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम् ॥

Though tantra can give certain powers, the same may lead the practitioners to wean away from पशुपति । But the tantra of **devi** makes one independent and at the same time capable of giving all **purusharthas.** These methods are revealed in the next two stanzas, which give out explicitly the पञ्चदशाक्षरी mantra (शुद्ध and सौभाग्य).

If we take here the most popular Vedic **mantra Gayatri** (Rv 25.36.3), the first letter क represents an equivalent of तत् in **Gayatri.** The second letter ए can be equated to सवितुर्वरेण्यं as ए is combination of अ and इ । ए is **mahad-yoni**, which is best among creators. ई the third letter meaning **gati** is equal to भर्गोदेवस्यधी । As is commonly known, the fourth letter ल is earth-**bijam.** महि in **Gayatri** also means earth. Similarly, the मायाबीज ह्रीं when split up represents the last line

of the **Gayatri**. Thus we see **samanvaya** between **tantra** and **agama**. Thus action in माया releases one from माया, like in dream.

Agamas :

Patanjali describes प्रमाण in three major groups, प्रत्यक्ष (direct perception), अनुमान (inference) and आगम (words of the wise). By direct experience, inference and unquestionable words of the wise, proof of our experience is given. A mother would point out to her children their real father. This is to be accepted without any question and no other proof could be given. Only when the child becomes a father, he could understand the import of the mother's words. Veda says : स पितुःपिताऽसत् । The 19th stanza of the **Saundaryalahari** speaks in an explicit form about this :

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम् ।
स सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम् ।।

In the Vedic concept of creation, the same idea is expressed by– O **Brahma**
O . . O **Maya** or **Prakriti**
O **Jiva**

which is the same as given in the above stanza. **Mukham** is **bindu** above; **kuchayugam** are two **bindus** below that, and down below that another **bindu** as **harardham**. The same stanza would also be interpreted to reveal कामकलाबीज क्लीं which fulfils all desires.

Various tantras :

Kali-tantra, Kularnava-tantra, Mahanirmana-tantra, Jnanakalini-tantra, and **Rudrayamala-tantra** speak volumes about secret methods of उपासना. Most of the renderings in them are not to be taken to mean in the ordinary sense in which we understand these words. Such rendering will give rise to वामाचार which is non-Vedic.

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ।
एते पञ्च मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे ॥ (कालीतन्त्र)

These five words have a deeper meaning. मद्य is not to be taken as an intoxicant, but a state of unconsciousness when suddenly thought process is stopped. मांस could be taken as tongue, and a yogic kriya of श्वासबन्धन is done to prolong life. मीन is fish ordinarily; but that thing is to be taken as an object moving in water. The three nadis इडा, पिङ्गला, and सुषुम्ना are otherwise known as rivers **Ganga, Yamuna** and **Sarasvati**. Therefore मीन is to be interpreted to mean प्राण which moves in the नाडी as a fish in water. मुद्रा is expression or bodily action to convey deeper meaning, feeling and experience. For example, चिन्मुद्रा of श्रीदक्षिणामूर्ति is fore-finger joined with the thumb, leaving out other three fingers. This **mudra** explains the **Jiva** joining with **parama,** when ego, **karma** and **maya** are left out. मुदं रावयति इति मुद्रा, That

which brings pleasure. Even in **Lalitasahasranama, Lalita** is called दशमुद्रासमाराध्या. **Mudra** therefore could be interpreted to mean उन्मनी अवस्था of समाधि. **Lastly** मैथुन means union of two; it is not male-female **union,** but the कुण्डलिनी in मूलाधार (earth) is taken to **sahasra-kamala** and joined there. This is also made clear in the first stanza of **Saundaryalahari** indicating **Siva-Shakti-aikya. Lalita** is called शिवशक्त्यैक्यरूपिणी. Therefore the correct understanding of the words will give the **sadhakas** methods of practice.

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले ।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ।। (महानिर्वाणतन्त्र)

Here **pitva** is not consuming any intoxicating drink or drug but when **kundalini** joins सहस्रार a beautiful experience of **ananda** is had, which could be compared in ordinary parlance to the effect observed of consuming intoxicants. This experience is fleeting. Therefore efforts are to be continued to stay there. Therefore these **sadhanas** are to be continued till **amrita** from चन्द्रकलाखण्ड falls on the earth (भूतले) on मूलाधार. Even then this experience may not last long. Therefore **punar utthaya** is necessary. As **Patanjali** said in the **yoga-sutras,** तत्र स्थिरो यत्नतः अभ्यासः, Practice is remaining steady in efforts to reach **parama. In agama** language also such equivalent and correct meaning of certain words is given.

अन्नं हि गौः (शतपथ 4.3.1.25)
अग्निर्वा अश्वः । आज्यं मेधा (,,)

Cow is to be taken as food; horse is fire; **medha** is ghee. If we had taken the literal meaning, we would have definitely gone wrong in understanding and misled. Therefore the correct interpretation gives the **samanvaya** between the **tantras** and the **agamas**.

-:o:-

आगम और निगम का समन्वयात्मक परिचय

भारतीय सभ्यता और संस्कृति निगमागम-मूलक है। देवी भागवत (१।५।६१) में 'निगम्यते ज्ञायते अनेन इति निगमः' यानी वेदः यह व्युत्पत्ति दी है। 'तत्त्ववैशारदी' में वाचस्पति मिश्र ने 'आगम' की व्याख्या इस प्रकार की है- 'आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः' (१।७)। अर्थात् आगम वह शास्त्र है, जिस के द्वारा योग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते रहते हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप को निगम (वेद) बताता है, तथा उसके साधन भूत उपायों को आगम सिखाता है। जिस प्रकार भारतीय सभ्यता वैदिक ज्ञान का आश्रय लेकर प्रवृत्त होती है उसी प्रकार वह अपनी प्रतिष्ठा के लिये आगम या तन्त्रों पर आश्रित है। अस्तु, अत्यंत प्राचीन काल से साधना की ये दो धाराएँ चली आ रही हैं। एक धारा वैदिक धारा है जो सर्व त्रैवर्णिक साधारण के लिए प्रकट रूप से सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है और दूसरी धारा आगम धारा है जो चुने हुए अधिकारियों के लिये गुप्त साधना का उपदेश देती है। एक बाह्य है तो दूसरी आभ्यंतरिक। एक प्रकट है तो दूसरी गुप्त है। एक ज्ञानप्रधान है तो दूसरी क्रियाप्रधान है। 'आगम' है उपक्रम और 'निगम' है उपसंहार। इसी लिए दोनों धारायें प्रत्येक काल में साथ साथ विद्यमान रही हैं। जब वैदिक यज्ञ-यागों का बोलबाला था उस समय भी आगम उपासना अज्ञात न थी; कालान्तर में जब आगम पूजा का विशेष प्रचलन हुआ उस समय भी वैदिक कर्मकाण्ड विस्मृति के गर्भ में विलीन नहीं हुआ। वैदिक तथा आगमिक पूजा की समकालीनता का परिचय हमें उपनिषदों के अध्ययन से स्पष्ट मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् (५।८) तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (६।२) में वर्णित पञ्चाग्निविद्या के प्रसंगों से स्पष्ट ही है—

**योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिदुपमन्त्रयते ।
सधूमो योनिरर्चिर्यदतः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गतः ।
तस्मिन्नग्नौ देवो रेतो जुह्वति, तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ।।**

कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति (२।१) की टीका में हारीत महर्षि के वचनानुसार 'आगम' का महत्त्व वेद के समकक्ष "श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च" कह कर प्रतिपादित किया है। 'आगमः पञ्चमो वेदः' कहकर भी इन सब का दिव्य लोकोत्तर समुद्भव है, ऐसा प्रचार में है। इन आगम ग्रन्थों का रचियता भी कोई मानव नहीं है। क्यों कि आगम शास्त्र के आदिकर्ता, उपदेष्टा तथा व्याख्याता या तो आदिनाथ शंकर हैं अथवा आदिकर्ता नारायण हैं[1]। अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होने से आगम धारा कहीं कहीं 'श्रुति' रूप से कही गयी है। आगम शास्त्र का ही दूसरा नाम तन्त्र शास्त्र प्रतीत होता है। अनन्त काल से गुरुशिष्य परम्परा से समागत होने के कारण ही इसे 'आगम' संज्ञा प्राप्त हुई होगी। शारदातिलक के अनुसार-

**आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ ।
तदागम इति प्रोक्तं शास्त्रं परम पावनम् ।।**

आद्यभगवत्पाद श्री शंकराचार्य महाराज ने महाशक्ति ललिता महात्रिपुरसुन्दरी के समस्त पुरुषार्थों के एक मात्र साधनरूप तन्त्र का अवतरण बताया है[2]। तन्त्रों की प्रामाणिकता के विषय में दो मत हैं। भास्करराय तथा राघवभट्ट के मत में श्रुति के अनुगत होने से तन्त्रों का परतः प्रामाण्य है। किन्तु श्रीकण्ठाचार्य आगमों को श्रुति के समान-स्वतः प्रमाण मानते हैं। कुलार्णव तन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि '**तस्माद् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलागमं प्रिये ।**' (२।१४०)

---

१. गुरु शिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ।।

२. स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम् ।।

शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट तंत्रों को स्मृतिशास्त्र मान कर उन्हें वेद के तृतीय यानी उपासना काण्ड के अन्तर्गत मानते हैं। चाहे श्रीकण्ठाचार्य अपने शैवभाष्य (२।३।३८) में तन्त्रों का वेदवत् प्रामाण्य स्वीकार करें या स्मृतितुल्य। शिव, नारायण और शक्ति से निर्गत होने के कारण वेदतुल्य ही प्रामाणिक हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है कि वेद केवल त्रैवर्णिक है[1], ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन द्विज वर्गों के लिए है, परन्तु तंत्र का द्वार सब वर्णों के लिये खुला है। अतः दोनों ही प्रामाणिक हैं। इसी लिये संभवतः आगम को श्रुति की संज्ञा दी गयी है। भारतीय संस्कृति, लोकजीवनपद्धति तथा धार्मिक परंपराओं पर, इस की अमिट छाप है। लौकिक तथा पारलौकिक मानवीय अभ्युदय तथा जीवन के चरम लक्ष्य निःश्रेयस की प्राप्ति के उपायों का इन में विशद विवेचन है। विश्व की किसी भी दूसरी जाति अथवा संप्रदाय के धार्मिक साहित्य में आगम कोटि का साहित्य उपलब्ध नहीं है।

तंत्र अथवा आगम नितान्त आध्यात्मिक साधना से लेकर सामाजिक व्यवस्था तक के सारे विषयों का विवेचन, निरूपण और निर्णय करता है। निगम की भांति आगम धर्म भी अद्वैतवाद का साधन मार्ग है। उच्च कोटि के साधकों की साधना में अद्वैतवाद सदा ही अनुस्यूत रहता है। सच्चे शाक्त अथवा शैव या वैष्णव की यही धारणा रहती है कि मैं स्वयं देवीरूप हूँ। तंत्रों में परम तत्त्व मातृरूप से स्वीकार किया जाता है। मैं अपने इष्ट देवता से भिन्न नहीं हूँ। शोकहीन साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हूँ[2]। शक्ति की कल्पना वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर ही है (ऋग्वेद १०।१२५)।

---

१. "वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः, तस्य तत्कर्तृत्वात्। अतः शिवागमो द्विविधः त्रैवर्णिक-विषयः, सर्वविषयश्चेति। उभयोरेकः शिवः कर्ता। उभावपि प्रमाण-भूतौ वेदागमौ।" (श्रीकण्ठभाष्य २।२।३०)

२. अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाऽहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

शाक्तों की आध्यात्मिक कल्पना के अनुसार पारब्रह्म निष्कल, शिव, सर्वज्ञ, स्वयंज्योति, आद्यन्तविहीन, निर्विकार तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है, तथा जीव एवं जगत् अग्नि स्फुलिंग की तरह उसी ब्रह्म से आविर्भूत हुए हैं। (कुलार्णव तन्त्र १।६-१०)। निगम की भांति उपासक का अपने उपास्य के साथ तादात्म्य स्थापित करना "देवो भूत्वा यजेद् देवम्" इत्यादि तंत्रों के सिद्धान्त निःसंदेह उपनिषद्-मूलक हैं। ऋग्वेद के वागाम्भृणी सूक्त में जिस शक्तितन्त्र का प्रतिपादन है शाक्ततन्त्र उसी के भाष्य माने जाते हैं[1]। अस्तु निगम और आगम दोनों ही परंपराओं में, सिद्धान्तों के विभेद से भी निगम की भांति आगम भी अद्वैतप्रधान, द्वैतप्रधान तथा द्वैताद्वैतप्रधान हैं।

तंत्रों के तीन प्रधान विभागों में से वैदिक तंत्र भी उपास्य देवता की भिन्नता के कारण तीन प्रकार के होते हैं। (१) वैष्णवागम, पाञ्चरात्र या भागवत, (२) शैवागम, (३) शाक्तागम-जिन में क्रमशः विष्णु, शिव तथा शक्ति की परा देवता रूप से उपासना विहित है। रामानुज की व्याख्या के अनुसार पाञ्चरात्र विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक है। शैव आगम में तीनों मतों की उपलब्धि होती है; परन्तु शाक्तागम सर्वथा अद्वैत का प्रतिपादन करता है। व्यापक दृष्टि से तंत्रग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तंत्र दो प्रकार के हैं-वेदानुकूल तथा वेदबाह्य। वेदबाह्य तंत्रों की भी कमी नहीं है, जिनके आचार और पूजा-प्रकार वैदिक पद्धति से बिल्कुल विपरीत ठहरते हैं।

जैसे वेदमूलिका स्मृति प्रमाण है और वेदबाह्या असत् स्मृति अप्रमाण है, उसी प्रकार वेदमूलक आगम प्रामाणिक है, अन्य नहीं। इसी लिए कहा है—

---

१. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ (१०।१२५)

मिश्रकं कौलिकं मार्गं परित्याज्यं हि शाङ्करि ।

कापालिक, क्षपणक आदि मार्ग केवल वेदबाह्यों के लिये राजस, तामस प्रकृति के लिये ही अनुसरणीय हैं। त्रैपुरतन्त्र भी वाम और दक्षिण दोनों मार्गों से प्रवर्तित हुआ है। आगम का चरमोद्देश्य मोक्ष होने पर भी परवर्ती प्रवाह केवल रजोगुण तमोगुण से अनुप्राणित मारण-उच्चाटन-मोहन-वशीकरण आदि क्षुद्र उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही प्रवाहित हुआ और सत्समाज में वर्जित माना गया। इसी कारण से तंत्र-आगम का परम पवित्र उद्देश्य मोक्ष को भूलकर अश्लीलता पूर्ण होने की धारणा लोगों में आने लगी किन्तु शैवागम और त्रैपुरसमयसिद्धान्त की विद्यमानता में यह धारणा केवल भ्रान्त धारणा ही सिद्ध हुई है।

आगम के दो रूप हैं-एक दर्शन और दूसरा साधना। दर्शन तत्त्वज्ञान के लिए है और साधना तत्त्वप्रक्रिया-मूलक तथा परिणामी है उस का आचार से विशेष संबन्ध है। आचार के भी दो रूप हैं–एक वेदानुकूल आचार और दूसरा वेदबाह्य आचार। वेदानुकूल आचार को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु वेदबाह्य आचार को होती है। देश और काल तथा व्यक्तिविशेष समवेत समन्वय से साधना की भूमिका में मौलिकता रंग लाती है। प्रक्रिया के मध्य अनुभूति की गहराइयाँ नये तथ्यों और सत्यों का दिग्दर्शन कराती हैं। तब वेद में प्राप्त शब्द, वाक्य और भाव जो लोक-जीवन की जीवन्त अनुभूतियों और चिन्तन के पारदर्शी आवरण से बाहर मूर्तिमान हुए थे, वे ही पुनः नयी व्यक्तिगत भाव भूमियों में अनुभूतियों की घनता, चिन्तन की बहुमुखी विविधता और जीवन के जीवन्त लोच के साथ आविर्भूत हो उठती है। ऐसी आगम परंपरा की मन्दाकिनी धारा में कौन भला ऐसा निगमानुयायी होगा जो अवगाहन न करना चाहेगा।



प्रामाण्यबुद्धि की मीमांसा

लेखक: डॉ. स. मो. अयाचित (नागपुर)

तंत्र या आगम की परंपरा अनादि है। इसका मतलब यही है कि जब से हमारा ऐतिहासिक ज्ञान है उससे भी पूर्वकाल में तंत्रमार्ग की साधना में लोग व्यग्र थे इसका हम अनुमान कर सकते हैं। तंत्र का प्रारंभ कब हुआ यह मालूम नहीं किया जा सकता। शायद इसी बात को लेकर तंत्र के प्राय: सभी ग्रंथों की रचना परमेश्वर के मुख से उपदेश रूप में की गई है। अपौरुषेय का भी एक अर्थ यही है कि जिस ज्ञान का कर्तृत्व आदमी की संकुचित बुद्धि नहीं ले सकती और जिस ज्ञान का उदय मनुष्य की बुद्धि में प्रतिभारूप में ही हुआ हो वह लेखन भले ही किसी मनुष्यने लिखी हो, उसका आंतर रूप उसके परे ही मानना पडता है। इसका अर्थ यह नहीं कि हमे पारंपरिक विद्वत्ता को लेकर वेद या तंत्र को पुरुषकृतिरूप नहीं समझना है। प्राय: हर व्यावहारिक कृति में कोई न कोई दोष रह ही जाता है। लेकिन ऐसी कृतियाँ कभी कभी नजर आती हैं जो पूर्ण रूप से निर्दोष दिखाई दें। जितना भी विचार ऐसी कृतियों पर हो, उतना ही ऐसी कृतियों का महत्त्व हमारी समझ में अधिक आता है। साथ ही उस कृति का सौंदर्य भी अधिक भाता है। यदि कोई कहे कि अजंता या वेरूल की कलाकृतियाँ मनुष्य को निमित्त मात्र समझकर भगवाननें ही बनाई तो उसका भावार्थ मन में आने में देर नहीं लगती। व्यास वाल्मीकि-कालिदास की अजरामर वाङ्मयकृति इसी कोटि में अंतर्भूत होती है। उधर एकाध अक्षर का परिवर्तन करने की चेष्टा करें, तो हमें यह विश्वास नहीं होता कि हम आभासित दोष को

दूर करके उसमें सुधार कर रहे हैं या इस हेरफेर से कुछ नया दोष निर्माण कर रहे हैं। ऐसी जो कृतियाँ 'अक्षर' कोटि में परिगणित होनी चाहिए उसी में निगम या वेदों का समावेश होता है। अर्थात् पारंपरिक हिंदू की दृष्टि से वेदों का महत्त्व सर्वोपरि है। वह कालिदास ही को क्यों, व्यास-वाल्मीकि रूप महान् ऋषियों को भी वेदों के अनंतर ही स्थान देगा। आगमों की तो बात ही दूर। क्योंकि आगम का ज्ञान साधना की दृष्टि से आध्यात्मिक स्तर पर होने के नाते निगम के समीप रहनेपर भी वाङमयरूप में अलग ही रहेगा। निगम का 'अपौरुषेयत्व' जहाँ वाङमयकृति का असाधारण लक्षण है, वहाँ आगम का स्थान उसके समांतर मानव की साधना में होगा। निगम का स्थान अद्वितीय ही रहेगा। निगम को समझनेवालों में भी अनेक संप्रदाय निर्माण हुए, जिनमें कई संप्रदाय नास्तिकता या पाखंड का प्रसार करनेवाले भी हैं। उसी प्रकार आगम का है। वामाचार का भी तात्त्विक समर्थन करनेवाले हैं, और दक्षिणाचार को भी सामाजिक आदि दृष्टिकोण से दुर्लक्षित करनेवाले सामने आते हैं। निगम प्राचीन ऋषियों का पूर्ण समाजचित्र अंकित करते हैं, लेकिन आगम ग्रंथों में केवल आध्यात्मिक या आधिदैविक चर्चा मिलती है, और इस चर्चा से भी चाहे ग्रंथकार की अनुभूति आधारभूत हो या न हो, साहित्य प्रतिभा का आवेश शायद ही कहीं प्रतीत होता है।

निगम और आगम या वेद और तंत्र संप्रदाय और विचारधारा की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं यह बात तो समन्वयवादी को भी मानना पडेगा। चूंकि भेद के रहे बिना समन्वय हो ही नहीं सकता, इस लिये दोनों संप्रदायों में अलगाव या पृथगात्मता होने में कोई विरोध नहीं। जैसा कि आगम के विद्वान् मानते हैं, आगम का ज्ञान वेदज्ञान की अनुभूति मात्र माना जा सकता है। लेकिन इन दोनों का वैसा नियत तार्किक संबंध पूर्ण रूप से नहीं माना जा सकता। इसका एक कारण यह है कि आगम एक पृथगात्म संप्रदाय

नहीं है, बल्कि कोई समान आधारपर सदृश तत्त्वों से बने हुए अनेक संप्रदायों का एक समूह है। इन संप्रदायों में वैदिक आचार-विचारों के साथ-साथ वेदबाह्य संप्रदायों का भी अंतर्भाव है। ऐसा नहीं कि आगम श्रुत्यनुकूल हो हो। कुछ आगम तो जानबूझकर वेदों से अलग आचार-विचारों का प्रणयन करते हुए वेदों की निंदा करने से भी हिचकिचाते नहीं। यह झिझक वेद माननेवालों के लिये समय-समय पर भावनात्मक गतिरोध अवश्य करती है। तंत्राचार की दृष्टि से वेद माननेवालों का संप्रदाय सब से गौण माना गया है यह बात अवश्य विचारणीय है। वेदाचार से क्रमश: वैष्णव और शैव आचार श्रेष्ठ माने गये हैं। दक्षिण को हम वामाचार से श्रेष्ठ समझते हैं। लेकिन शैवाचार के अनंतर क्रम दक्षिण के परे ही वामाचार का होता है। सिद्धांत और कौल आचार तो इन सब के परे और श्रेष्ठ माने गये हैं। 'कौलात् परतरं न हि'। अत: तंत्राचार एक रूप नहीं है। तंत्र एक विचारधारा की संज्ञा हो सकती है। यह विचारधारा भी साधना या आचार से परम तत्त्व की अनुभूति प्राप्त करने का साधन मात्र होने से विविध होना अपरिहार्य है। 'नैक: ऋषि: यस्य वच: प्रमाणम्' यह अनुभव सार्वत्रिक होने के कारण अनुभव के आधारपर और रुचिभेद के माध्यम से तंत्राचार का विस्तार हुआ है। किं बहुना, विस्तार का ही नाम तंत्र है।

तनु विस्तारे इस धातु से बने तंत्र शब्द से एक विशाल ग्रंथ समुदाय, आचारपरंपरा और संप्रदाय भेद लक्षित होता है। यह सुविस्तृत आगमपरंपरा मानव जाति के लिए एक भव्य आध्यात्मिक ध्येय सामने रखती है। अपनी रुचि के अनुसार साधन के भेद होना स्वाभाविक है। वैसे निगमवाङ्मय का भी कोई पार नहीं जानता। बहुत सी निगमपरंपराएँ या शाखाएँ कालौघ में लुप्त हो चुकी हैं। लेकिन निगम विविधता को रखते हुए भी आगम से ज्यादा संमिलित (Unified) परंपरा है। आगम का स्वरूप ऊपर निर्दिष्ट किए हुए कारणों से अधिक संकुल, संकीर्ण या मिश्र (Composite)

दीखता है । इस विषय में एक और बात का निर्देश जरूरी है । जैसे आगम वैदिक या अवैदिक होते हैं, वैसे कुल्लूक और हारीत के मतानुसार श्रुति भी वैदिक और तांत्रिक हो सकती है । श्रुति का तात्पर्य प्राय: वेदों से होता है । इस लिये अवैदिक श्रुति यह शब्द विरोधात्मक लगते हैं । यहाँ श्रुति का अर्थ 'साक्षात् प्राप्त ज्ञान' या ऐसा कुछ अभिप्रेत हो । कुल्लूक के वचन का अर्थ साहित्यात्मक भेद से संबद्ध हो या न हो, वेदबाह्य परंपरा में भी ज्ञानोपासना की श्रेष्ठता और संभाव्यता दर्शाता है ।

इन दोनों परंपराओं का विचार करते समय प्रामाण्य का प्रश्न निर्माण होता है । लौकिक संदर्भ में प्रामाण्य का विचार सामान्यत: मन में नहीं आता । जो भी ग्रंथ या श्रेष्ठ पुरुष मनुष्य को प्रभावित करता है, उसका प्रामाण्य मनुष्य के लिए निर्बाध सिद्ध होता है । अनुभव को यदि सर्वश्रेष्ठ समझना है तो प्रामाण्य की सिद्धि प्रभाव के रूप में ही होना उचित है । ज्ञान के बारे में तो यह बात बिलकुल सीधी सी लगती है । मानव को या मानवसमूह को जिस ग्रंथ से प्रेरणा मिलती है वह ग्रंथ प्रमाणभूत माना जाता है, जैसा कि मार्क्स् के ग्रंथों से आधुनिक युग में किन्ही एक को प्रेरणा मिली । मगर प्रामाण्य का यह अर्थ सार्वकालिक या सार्वत्रिक नहीं रह सकता । वेदों का प्रामाण्य भी समाज के सभी स्तरों में या सभी कालखंडों में नहीं माना गया । ज्ञान अनुभव का विषय है, इसलिए जिसका अनुभव जैसा हुआ वैसा ज्ञान के आविष्कार में या निरूपण में भेद हो गया । विज्ञान के बारे में भी, यह दंडक होते हुए भी प्रामाण्य का मूलार्थ विज्ञानक्षेत्र में अधिक स्पष्ट और निश्चित है । जो बात प्रत्यक्ष ऐंद्रिय साधनों से अनेकबार सिद्ध की जा सकती है उसका प्रामाण्य निर्विवाद हो गया । जब विज्ञान प्रमाणित हो सकता है, तब ज्ञान ही क्यों न प्रमाणित हो ? लेकिन दीखता तो ऐसा ही है कि न केवल ज्ञान के क्षेत्र में, अपितु विज्ञान के क्षेत्र में भी, मनुष्य का सामाजिक मन अपनी ही मनमानी करता रहा है ।]

गॅलिलियो आदि पाश्चात्य वैज्ञानिकों के चरित्र से यह बात स्पष्ट होती है कि विज्ञान या प्रमाणित धर्मज्ञान जो भी कहे, धर्माचार्य और समाज के नेता या तो अपना प्रभाव दिखाने पर तुले होते हैं या रूढि के गुलाम बनकर यदृच्छया निरपेक्ष शासन (absolute rule) करने पर मजबूर होते हैं। यह निरंकुशता या समाज का मनमाना ढंग 'वास्तविक' शास्त्रप्रामाण्य में बाधा नहीं डालता। लेकिन जहाँ तक आचार या व्यवहार का सवाल है, शास्त्र का प्रगमनात्मक इतिहास दूषित होने से नहीं बचता। विज्ञान के सर्वमान्य क्षेत्र में जब यह अस्वास्थ्यकारक विचारों का 'प्रदूषण' जारी रहता है, तो दुरूह, भाववाचक (abstract), और सामान्य तौर पर चलने वाले सामाजिक या विचारप्रधान ज्ञानक्षेत्र में निरर्गलता, असंगति या बेतुकापन (absurdity) रह जाना कोई असाधारण बात नहीं होगी। उदाहरण के लिए ज्ञानोत्तर कर्म का वाद ही लीजिए। कर्मवादी ज्ञानोत्तर जिस कर्म की बात करते हैं वह विरोधियों की दृष्टि से कर्म है ही नहीं; फिर भी ज्ञानोत्तर कर्म संभव है या नहीं यह वाद पारंपरिक शब्दजाल को लेकर चलता ही रहता है। ज्ञान का विचार करते समय यही प्रामाण्य बुद्धि कुंठित नहीं तो स्तिमित अवश्य करती है। जैसा कि ऊपर सूचित किया जा चुका है, प्रामाण्य मानवी इतिहास की दृष्टि से (human history) कभी एक रूप नहीं रहा। राघवभट्ट या भास्करराय जैसे श्रेष्ठ आगमज्ञानी आगमों का प्रामाण्य निगम यानी वेदों पर निर्भर मानते हैं। श्रीकण्ठ या दूसरे आगमों के बारे में स्वतः-प्रामाण्य माननेवाले आगम संप्रदायों में भी संख्यात्मक बाहुल्य है ऐसा लगता तो नहीं। साधना के बारे में गुरुवाक्य का या ग्रन्थ का प्रामाण्य मानना कुछ-एक अपवाद छोडकर साधारण आदमी की दृष्टि से व्यवहार में सरल लगता है। लेकिन गौतम बुद्ध जैसा आदमी स्वयं के अनुभव को ही प्रमाण मानता हुआ यह सिद्ध करता है कि स्वतःप्रामाण्य जैसी कोई बात ही अस्तित्व में नहीं है। यानी स्वतःप्रामाण्य जो संप्रदाय मानते हैं उनके लिए ग्रन्थलापन में या

गुरु वचनों में या आचारों में कहीं न कहीं तर्कबुद्धि का आश्रय लेकर मध्यमार्ग या समझौते का अमल करना अनिवार्य होता है।

मतलब यह कि स्वत: प्रामाण्य यह केवल अपने मन की बात (Subjective) रह जाती है। यह केवल आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि का प्रभाव नहीं है। पाश्चात्यों के इतिहास में शब्दप्रामाण्य का सामाजिक असर भारतीयों से भी कभी कभी बुरा हुआ है यह विज्ञान के छात्र जानते हैं। इतिहास में ही क्यों, अब भी पाश्चात्य राष्ट्रों की जनता शब्दप्रामाण्य से या धर्मपीठों के अभिभावक आक्रमणों से मुक्त नहीं हैं। कुछ सीमातक यह स्वाभाविक भी है, और शोभादायक भी। लेकिन जब असली अनुभूति का सवाल निर्माण होता है, तब अनुभूति के अलावा और कोई प्रमाणभूत पदार्थ नहीं रहता। इसलिये जब शंकराचार्य जैसे महान् साक्षात्कारी व्यक्ति के सामने कपिल जैसे अद्वैतविरोधी ऋषि के वचन आते हैं तो उन्हें कहना पडता है कि इस बारे में कपिल मुनि का वचन प्रमाण नहीं हो सकता, चाहे कपिल कितना भी श्रेष्ठ हो। यह तो सर्वविदित है कि शंकराचार्य वेदों का तात्पर्य केवलाद्वैतवाद के समर्थन में समझते थे। अत: सब द्वैतवादियों का उन्हें निरसन करना था। कपिल मुनि का वेदों में ही आदर किया हुआ है। लेकिन जहाँ तक केवलाद्वैत का संबंध है कपिल के वचनों का कोई दूसरा अर्थ निकालना या वैदिक कपिल को द्वैतवादी कपिल से अलग मानना यह दो ही पक्ष उनके सामने हैं, और दोनों का आश्रय शंकराचार्य ने ले लिया है। शंकराचार्य ने साथही यह भी कहा है कि भौतिक जगत् का अनुभव अगर वेदविरुद्ध है तो वेदों का वचन अनुभवविरोधी होने के कारण प्रत्याख्यात (disclaimed) समझना चाहिये। लेकिन वह समय ही ऐसा था कि हिंदूधर्म का रक्षण करने का मतलब ही वेदों का समर्थन था। अत: शंकराचार्य और अन्य दार्शनिकों ने वेदों का प्रामाण्य स्वत:सिद्ध प्रतिपादन किया, जो कि इस लेख के आरम्भ में निर्दिष्ट प्रभावरूप विचारधारा के बलपर सार्वजनिक अनुभव का भी विषय

रहा। इसी अनुमान का आश्रय वैदिक आगमों ने किया और इसी दृष्टि से 'नाऽवेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' इस वचन का अर्थ सामाजिक परिधि में करना चाहिये, न कि तात्त्विक दृष्टि से। अर्थतः, जो वेद को नहीं मानते, उनका ज्ञान परिपक्व नहीं माना जाएगा। यदि वेदविरोधकों में या वेदों को प्रमाण न माननेवालों में कोई साक्षात्कार या अनुभव का आधार अपने उपदेश या तत्त्ववाद को दे रहा हो तो वह अनुभव एक तो वेदों में मिलना चाहिये या आभासिक हो। इसी बुद्धिवाद को लेकर आचार्य ने अपने शारीरकभाष्य में बुद्ध और कपिल का तत्त्वज्ञान अपूर्ण ही नहीं बल्कि संभ्रान्त ठहराया है।

इसी प्रामाण्यवाद के संदर्भ में निगम और आगमों के समन्वय के बारे में विचार होना जरूरी है। वस्तुतः प्रामाण्य का परिधि सामाजिक और विशिष्ट काल का होता है यह ऐतिहासिक तथ्य है। फिर भी प्रामाण्य यदि स्वीकार करके आगे समन्वय का विचार करना है तो समन्वय का मूल अर्थ और विवक्षित क्षेत्र ध्यान में रखकर ही यह विचार उचित होगा। जब एक ग्रंथकार या ग्रंथ का विचार करना है, तब हम उसके अनेक जगह पर बिखरे हुए विचारों का एकत्रित रूप में परामर्श लेते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि किसी वचन का आपाततः ग्रंथकार के विरोधी अर्थ मन में आता है तो हम यह सोचते हैं कि यह ग्रंथकार बहुत से स्थलों में जो विचार प्रदर्शित करते हैं उसका विरोध एकआध प्रसंग में कैसे हो पाता है? ऐसे स्थलों पर प्रायः ग्रंथकार की विचारधारा का आश्रय ले जाता है और समन्वय की कोशिश होती है। लेकिन निगम और आगम यह दो ग्रंथ नहीं हैं, ये दो अलग परंपराएँ हैं। अतः इनमें समन्वय की बात अलग स्तर पर ही हो सकती है। समन्वय का यह विचार मीमांसाशास्त्र के भी आगे का कदम होगा। मीमांसाशास्त्र में समन्वय का जो विचार है वह वेदों का ही विचार है। वेदों में जगह-जगह पर एक ही विषय के संदर्भ में जो वचन संकीर्ण रूप में मिलते हैं उनका परस्पर संबंध निश्चित करना यही

प्रायः मीमांसाशास्त्र का कार्यक्षेत्र है। लेकिन निगम और आगम रूप दो अलग परंपराओं का समन्वय तात्त्विक और तार्किक भूमिका पर ही हो सकता है। जैसा कि कुछ विद्वान् प्रतिपादन करते हैं, दोनों परंपराओं में जो विवरण मिलता है, वह एक ही तत्त्व प्रणाली का होकर भी निगम में आनुमानिक रूप में और आगम में आनुभविक रूप में माना जा सकता है। लेकिन यह भी एक युक्तियुक्त संगति बिठाने का एक बौद्धिक तरीका मात्र है। उससे निष्पन्न होनेवाला समन्वय आम तौर पर ही देखा जा सकता है। प्रतिवचन समन्वय वेद और तंत्र के असीम वाङ्मयीन प्रवाह में नहीं हो सकता। एक तो दोनों परंपराओं की वाङ्मयीन सामग्री अधिकतर मात्रा में लुप्त हो चुकी है। जो ग्रंथभार उपलब्ध होता है, वह भी अलग अलग आधारभूमि पर खडा हुआ है। अतः शायद परम तत्त्व और उसका साक्षात्कार इसी एक विचार को दोनों परंपराओं में समान रूप से पाने के कारण समन्वय कह सकते हैं। इस प्रधान विचार के अंगभूत जो अनेकरूप विस्तार हमारे सामने है उसका निर्माण विभिन्न स्तरपर होने के कारण एक दूसरे से नियत संबंध होना आवश्यक नहीं है। अंततोगत्वा साक्षात्कार को अगर मूलधन मानना है तो दोनों परंपराओं के विस्तार में जो जिसको भाता है वह उसको स्वीकार्य होगा यह स्वाभाविक बात है। समन्वय का यह अर्थ ध्यान में रखना परम आवश्यक है, जिससे बहुत कुछ तथ्यों का स्पष्टीकरण हो जाता है। पूर्ण सत्य के ज्ञान की कल्पना तो असंभव लगती है और यह असंभव के कारण ही साक्षात्कारी पुरुषों के मतभेदों पर प्रकाश पडता है। यह बात सही है कि ये मतभेद बहुत हद तक पुरुषों के लौकिक जीवन की मर्यादाओं को लक्षित करती हैं। जनक, शुकाचार्य और व्यास अपने अपने आप में कितने भी परम ज्ञानी क्यों न हों, जब तक व्यक्तिगत जीवन की यात्रा चलती रहती है, उनके स्वभाव में, विचार में, भावना में और परिणामस्वरूप आचार में भेद रहना अपेक्षित है। इसी आधारपर हम शब्दप्रामाण्य की परंपरा में निर्माण होनेवाली समस्या का समाधान कर सकते हैं।

शब्दप्रामाण्य के बारे में मीमांसकों के अभिप्राय का परामर्श लेना बहुत आवश्यक है, क्योंकि मीमांसादर्शन में वेद वचनों का अर्थ स्पष्ट करने में ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व आधारभूत माने गये हैं जो अन्यत्र भी उपयुक्त हैं और न्यायालयों में भी प्रमाण माने जाते हैं। प्रामाण्य के संदर्भ में मीमांसादर्शनकारों ने विधि, निषेध और अर्थवाद इन तीन प्रकार के वचनों का अलग विचार किया है। विधि और निषेध का स्पष्टीकरण लौकिक या दृष्टान्तरूप से अर्थवादों में किया जाता है, जिसका केवल तात्पर्य रूप में अभिप्राय प्रमाण माना जाता है। विधि और निषेध इन दोनों का प्रामाण्य 'स्वार्थ' पर ही निर्भर रहता है, याने विधिवाक्य और निषेधवाक्य स्वतंत्ररूप से प्रमाण हैं। अगर वेदों में कुछ आदेश दिया हो या किसी बात का प्रतिषेध किया हो, तो वह आदेश और प्रतिषेध अपने आप में प्रमाण हैं, उसके लिये और किसी अनुमानादि साधनों की अपेक्षा नहीं रहती। अनुमानादि साधन केवल हमारी बुद्धि को व्यावहारिक तौरपर दृढ करते हैं, जो स्वयं या किसी अन्य प्रमाणों के सहारे के बिना प्रमाण नहीं होते। वेदान्त में और धर्मशास्त्रों में अनुमान प्रामाण्य का वेदों के आधार-पर ही स्वीकार किया गया है। अनुमान का अंतिम साध्य 'तत्त्व-प्रकाशन' ही है, 'युक्ति' केवल साधन है। अतः वेदप्रामाण्य का विचार करते हुए कुछ आक्षेपकों ने अनुमान सहायक प्रमाण न मानते हुए भी यह आवश्यक समझा है कि प्रतिषेधों में जो अनिष्टसाधनत्व शक्ति अवगमित होती है वह किस क्षेत्र में प्रतिहत होती है. इसका भेदज्ञान तो प्रमाणभूत वचन के लिए आवश्यक है। अग्नीषोमीयादि क्रियाओं में होनेवाली हिंसा में अनिष्टसाधनत्वशक्ति नहीं है ऐसा भेदज्ञान जब तक नहीं होता तब तक निषेधवचन का प्रामाण्य स्वीकार-योग्य नहीं होता है। इसका सीधा अभिप्राय यही है कि प्रामाण्य के लिए 'प्रयोजनवद् अप्राप्त अर्थ का विधान' पर्याप्त नहीं, प्राशस्त्यज्ञान उसका एक आवश्यक अंश है और यह प्राशस्त्यज्ञान जिज्ञासु की बुद्धि को प्रतीत होना जरूरी है। इसीलिये परम तत्त्व के ज्ञान के लिए भी तप या मनन पर्याप्त नहीं, विचार भी आवश्यक है, यह दर्शाने के लिए

'समेत्य मीमांसां चक्रुः' (छान्दोग्य ५-११-१) इत्यादि वचन दिये गये हैं। जब वेदों के बारे में प्रामाण्य की यह स्थिति है, तो, तन्त्रों के बारे में सदियों से अखण्ड विचारमंथन होता रहा यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। तन्त्रों के बारे में तो प्रामाण्यबुद्धि का इतना सर्वस्पर्शी विचार हुआ है कि अभी विचारों का कोई अंश अस्पृष्ट रहा हो यह कल्पना नहीं की जा सकती।

तन्त्र या आगमशास्त्र को माननेवालों में स्पष्ट रूप से दो भिन्न परंपराएँ मालुम होती हैं। एक तरफ तो आगमों में वर्णित आचारों को वेदबाह्य समझनेवाले लक्ष्मीधर जैसे विख्यात व्याख्याकार हैं, तो दूसरी तरफ इन्हीं घिनावने (revolting) आचारों का समर्थन करनेवालों में भी भास्करराय जैसे प्रकाण्ड ज्ञानी हैं। इन दोनों विचारप्रवाहों के बीच में अनेक विचार संप्रदाय समाविष्ट हैं। उपनयनादि संस्कारों का स्वरूप वेदप्रणीत और स्मृत्यनुकूल होने पर भी षोडशमातृकापूजा जैसे तांत्रिक आचार किये बिना शास्त्रीय पूर्णता नहीं प्राप्त होती। जो संध्यावंदनकर्म प्राचीन काल से वेदोक्त माना गया है, और जिसमें सूर्यदेव की उपासना ही प्रधान है, जिसमें केवल प्रार्थना और अर्घ्यादि सामान्य व्यावहारिक विधि ही अंतरंगभूत है, उसका मध्यकालीन जटिल और संकीर्ण रूप देखने पर हम आश्चर्यचकित होते हैं। आगमों के प्रायः सभी आचारांग संध्योपासना में शामिल किए गये हैं, इतना ही नहीं, वैदिक संध्योपासना से तांत्रिक संध्योपासना पूर्णरूप से अलग भी उपलब्ध है। धार्मिक कार्यों में जहाँ दीक्षाविधि आवश्यक होती है, वहाँ वैदिक दीक्षाविधि अपर्याप्त मानकर अलग से एक तांत्रिक दीक्षाविधि का प्रणयन किया गया है। कुछ पुराणों में स्पष्ट रूप से वैदिक आचारों से तांत्रिक आचार श्रेष्ठ माने गये हैं। यह केवल आचार परंपरा के संयोजनात्मक या परिवर्धनात्मक (additional benefit) लाभ की मनोवैज्ञानिक बात नहीं। उसमें एक सांप्रदायिक 'अहं' का भी अंश है। इसका एक निदर्शन यह है कि जिस

वैदिक गायत्री का मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से सर्वोपरि श्रेष्ठत्व प्राय: सभी परंपराओं ने माना है, उस गायत्री से भी तांत्रिक इष्ट मंत्र बढ़कर होने का दावा किया गया है। रुद्रयामल और ब्रह्मयामलों में कहा गया है कि वेदों के आधार से बहुत कोशिश करने पर भी वसिष्ठजी अपना आध्यात्मिक ध्येय प्राप्त नहीं कर सके, और अंत में उन्हें आगमों का सहारा लेना पडा। काकचण्डेश्वरीमत में लिखा है कि वेद अब इतने पुराने हो गये हैं कि उनका अब किसी तरह से मानव को लाभकारित्व शेष नहीं रहा (वेदानां च वयोर्थेन न सिद्धिस्तेन जायते)। जिसने तंत्रमार्ग की दीक्षा स्वीकार की है उसके लिये धर्मशास्त्रों में वैदिक श्राद्धविधि प्रतिषिद्ध है। कुलार्णव में तो तंत्र और वेदों की तुलना कुलस्त्री और पण्यस्त्रियों से करके तंत्रमार्ग का श्रेष्ठत्व दिखाया है। इतना ही नहीं, कुल्लूकभट्ट जैसे माने हुए धर्मशास्त्रज्ञ और भागवत जैसे अभ्यर्हित पुराण में भी वेद और तंत्र स्वतंत्र होने का निर्देश है। जब तंत्र वेदों से अलग है, तो उसका प्रामाण्य भी अलग स्थापित हुआ।

इस विचारधारा का आधार सामान्य लोगों पर क्यों और किस तरह परिणाम जमाता है यह भी एक मानसशास्त्रीय अन्वेषणयोग्य बात है। इसके पीछे मनुष्य के भौतिक साधनों का आकर्षण ही केंद्रभूत विचारस्थान बना हुआ है। आम जनता का किसी विचारधारा से सैद्धान्तिक आकर्षण की अपेक्षा प्रायोगिक सफलता के आधार से ही संबंध बना रहता है और यह प्रायोगिक सफलता या विफलता दो स्तरों पर होना स्वाभाविक है। एक तो शारीरिक स्तरपर जो वैद्यकशास्त्र का विषय बना है और दूसरा मानसिक स्तरपर जो दर्शनों का विषय 'होना चाहिये'। मगर दार्शनिकों में प्राय: सिद्धान्तों की ही चर्चा चलती है। दर्शनों का जो विनियोगात्मक (Applied) अंश है उसपर ध्यान कम मात्रा में दिया जाता है। इसके अलावा जो ध्यान दिया जाता है उसमें आदर्श का विचार आव-

श्यक रूप में होने से मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति केवल उपदेशात्मक या उपदेशानुकूल विचारों की तरफ नहीं होती, चाहे वह विचार कितने भी आकर्षक क्यों न हों। रोचकता बढाने से कथाओं का साहाय्य लेने पर भी मनुष्य इस अंश का ग्रहण सहजता से नहीं कर पाता। आखिर शर्करा का अवगुण्ठन होने पर भी वह तो औषधि की गुटिका ही है। इसलिये मानस स्तरपर बौद्धिक व्यापार का प्रवर्तन बहुत कठिन बन जाता है। उसी मात्रा में कठिनता का लाभ उठानेवाले भी होते हैं। अतः भविष्य में ताकझाँक करनेवालों की कमी नहीं होती। यहाँ पर मैं इन सब विचारकों की निन्दा नहीं कर रहा हूँ। जैसे केवल व्यापारिक दृष्टिवाले (Business-minded) इसमें शामिल हैं, सिद्धान्त विचार करनेवाले और आध्यात्मिक झुकावपर ज्यादा जोर लगाकर योगशास्त्र का चिन्तन करनेवाले भी हैं। इसी विचारधारा में केवल जिज्ञासा ज्योतिषरूप में और दब्बूपन (Submissiveness) या विवशत्व तंत्रमार्ग में परिणत होते हैं। अधिकारियों में संशोधन की प्रवृत्ति निश्चित रूप से रहती है, लेकिन आम जनता की दृष्टि से यह भेद महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। **'चिकित्सित-ज्योतिष-तन्त्रवादाः पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति'** यह वचन भी इसी बात की पुष्टि करता है।

इन विचारों की दिशा गलत कहना कठिन है। लेकिन साथ में सामाजिक परिणाम का विचार करना भी शास्त्रकारों के लिये अनिवार्य होता है। जब तन्त्रमार्ग में या ज्योतिष में शान्तिस्वरूप कुछ विधानों के प्रयोग का सुझाव दिया जाता है तब शास्त्रकारों को निर्णय करना बहुत जरूरी है। जो प्रयोग हानिकर नहीं होते, वे तथ्यहीन होते हुए भी मानसिक लाभ की दृष्टि से शास्त्रपूत माने गये हैं। लेकिन जो इतने सीधे (innocent) नहीं होते और समाज को हानि भी पहुँचाते हैं उनका परामर्श लेना और हानिकारक दर्शाकर निषेध करना शास्त्रकारों का कर्तव्य है। वायुसंहिता में किया हुआ सिद्धान्तनिषेध अप्पय्यदीक्षितने **शिवार्कमणिदीपिका** में

(२-२-३८) निर्दिष्ट किया है । क्षेमेन्द्र जैसे महान् व्यङ्ग्यकारोंने तांत्रिकों के हीन आचारों का घृणित रूप दिखाया है । अपरार्क जैसे धर्मशास्त्रकारोंने कापालिक, शैव और पाशुपतों का दर्शन होनेपर सूर्यदर्शन करना प्रायश्चित्त के रूप में विहित माना है । अपरार्कने आपस्तम्ब सूत्र का सहारा लेकर, शैवों का निर्देश न करते हुए भी, शैवाचार अनधिकृत माने हैं । मनु ने (११-६३) केवल तांत्रिकों का ही नहीं, बल्कि अथर्ववेद का भी अभिचारकर्म निन्द्य ठहराया है । तान्त्रिकों के षट्कर्म समाजधारणा की दृष्टि से विद्रोहकारक होने के कारण सूत्रकारों ने और मनु-याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारोंने प्रायश्चित्तार्ह बताये हैं । इसका कारण यही है कि उन्नति करने के लिये मनुष्य की साधनों की धारणा दूसरों को हानि पहुँचाने की नहीं होनी चाहिए । पतञ्जलि जैसे महान् शास्त्रकारने अपने महाभाष्य में व्यङ्ग्यात्मक रूप से कहा है कि जो मद्य सीधा पीने से स्वर्ग नहीं पहुँचाता, वह हवन के रूप में कैसे स्वर्ग का कारण बनेगा ?

यदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् ।
पीतं न गमयेत् स्वर्गं किं तत् क्रतुगतं नयेत् ॥

इसमें प्रच्छन्न रूप से वैदिक यज्ञों का भी निर्देश हो सकता है । लक्ष्मीधरने अपनी विख्यात सौन्दर्यलहरीव्याख्या में चौंसठ तंत्रों में वर्णित दुराचारों का प्रतिषेध किया है ।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल से तंत्र के बारे में समाज की दृष्टि स्थिर रूप से द्विविध रही है । जो तांत्रिक आचारों का समर्थन करते हैं वे भी सामाजिक परिणामों से अपरिचित नहीं हैं । भास्करराय जैसे प्रकाण्ड आगमाचार्य लिखते हैं कि तन्त्रमार्ग में प्रदिष्ट क्रियाएं बहुत कठिन (और गूढार्थक भी) रखने में साधारण लोगों को इससे निवृत्त करना यही उद्दिष्ट है; जो अधिकारी हैं, अपना और समाज का दायित्व समझते और मानते हैं, शास्त्राचार का गूढार्थ जानते हैं, वे ही इसका प्रयोग करें (या न करें) । यह

भी स्पष्ट है कि जिन्होने तंत्रों का विरोध किया है वे भी तंत्रों का आशय समझकर समन्वय की कोशिश करते थे। अपरार्क का निर्देश किया जा चुका है, जहाँ तंत्रों का विरोध दीखता है। लेकिन अपरार्कने यह भी कहा है कि तंत्रों का विरोध करने के पीछे उद्देश्य इतना ही है कि तंत्रों में कही हुई सभी बातें एक जैसे प्रमाण नहीं हो सकतीं। यह बात स्मृति आदि सभी वैदिक ग्रंथों के बारे में भी सत्य है। भास्कररायने स्पष्टतः यह अभिप्राय दिया है कि निंदा और स्वीकार की बातें तंत्रों के बारे में प्रामाण्य के संदर्भ में जब की जाती हैं तब इन वचनों का अक्षरार्थ नहीं, बल्कि गर्भितार्थ अभिप्रेत होता है। उनके मतानुसार जैसे मन्वादि स्मृति कर्मकाण्ड की उपोद्बलक मानी जाती है, वैसे ही तंत्र ग्रंथ ज्ञानकाण्ड के उपोद्बलक स्मृतिग्रंथ ही है। अगर अक्षरार्थ लेकर विभिन्न तंत्रों का परस्पर अभिप्राय हम देखने लगें तो समन्वय हो ही नहीं सकता। वैखानस और पाञ्चरात्रों में इतना विरोध है कि वे परस्पर निंदा करने में कोई कसर नहीं छोडते। **उदिते जुहोति** और **अनुदिते जुहोति**, अथवा **षोडशिनं गृह्णाति** और **षोडशिनं न गृह्णाति**, इन वचनों से शास्त्रप्रामाण्य का रक्षण करने के लिये दोनों आदेशों को समकक्ष मानकर पर्याय या पाक्षिक प्रामाण्य दे सकते हैं। इस तरह का विकल्प निगम और आगमों के भेदस्थानों पर मानना कठिन लगता है। इस कठिनता के पीछे दोनों विचारधाराओं का स्वरूपभेद ही प्रधान है। जैसे वैदिकों में विभिन्न तत्त्वप्रणाली माननेवाले विचारसंप्रदाय स्वीकृत किये गये हैं, उसी तरह के विभिन्न विचारभेद तांत्रिकों ने भी स्वीकृत किए हैं। लेकिन आचारों में उनमें बहुत ही अंतर दिखाई देता है। वैखानस और पाञ्चरात्र जैसे दो संप्रदायों का आपस का आत्यन्तिक भेद अन्यथा संगत नहीं लगता। पाञ्चरात्रों के कुछ संहिताओं में वैष्णवतन्त्र का उगम वेदों के एकायन शाखा से दिखाया गया है, जो किसी को ज्ञात नहीं है। कुछ अधिकारी विद्वानों के मतानुसार एकायन शाखा की कल्पना अर्वाक्कालीन तन्त्रकर्तृक दिखाई देती

है। तान्त्रिकों ने अपने अपने विचारों के प्रणयन के लिये उपनिषद् ग्रंथ भी प्रवृत्त किये हैं।

इन द्विविध बातों का इतना विस्तार से निर्देश करने का उद्देश यही है कि ये दोनों विचारधाराएँ पहले से ही बहुत प्रबल रही हैं। तंत्र का जितना विरोध वैदिकों ने किया, उतना ही विरोध प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष मार्गों से तांत्रिकोंने भी वैदिकों का किया है। साथ ही दोनों के न केवल शिष्यों में, बल्कि आचार्यों में भी वेदों का और तन्त्र की विचारधारा का संमान किया गया है। जैसा अपरार्कने कहा है, तंत्रों का विरोध केवल विशिष्ट-स्थानीय विचार का विरोध है, आम तंत्रों का विरोध नहीं है, और विशिष्ट-स्थानीय विचारों का भी वेदानुकूल लेकिन विभिन्न स्तरों पर समर्थन करने का प्रयास आचार्यों ने किया है। अवकाश में जैसे दिशा का अर्थ ही बाधित होता है, वैसे ही उच्चस्तर पर दक्षिण और वाम आदि कल्पनाओं का अपने आपसे सहज ही निरास हो जाता है, विरोध केवल सामाजिक स्तरपर रह जाता है। यदि शाब्दिक संगति का आधार लेना है, तो 'आगम' का अर्थ ही तर्कविचारकों ने 'वेदानुकूल प्रामाण्यसाधन' ऐसा किया है, और वेद-आगम-ऐतिह्य इस सोपानपरंपरा से शब्दप्रामाण्य का समर्थन किया है।



श्री पीताम्बरापीठ, दतिया (म. प्र.) से प्रकाशित

ग्रन्थ–सूची

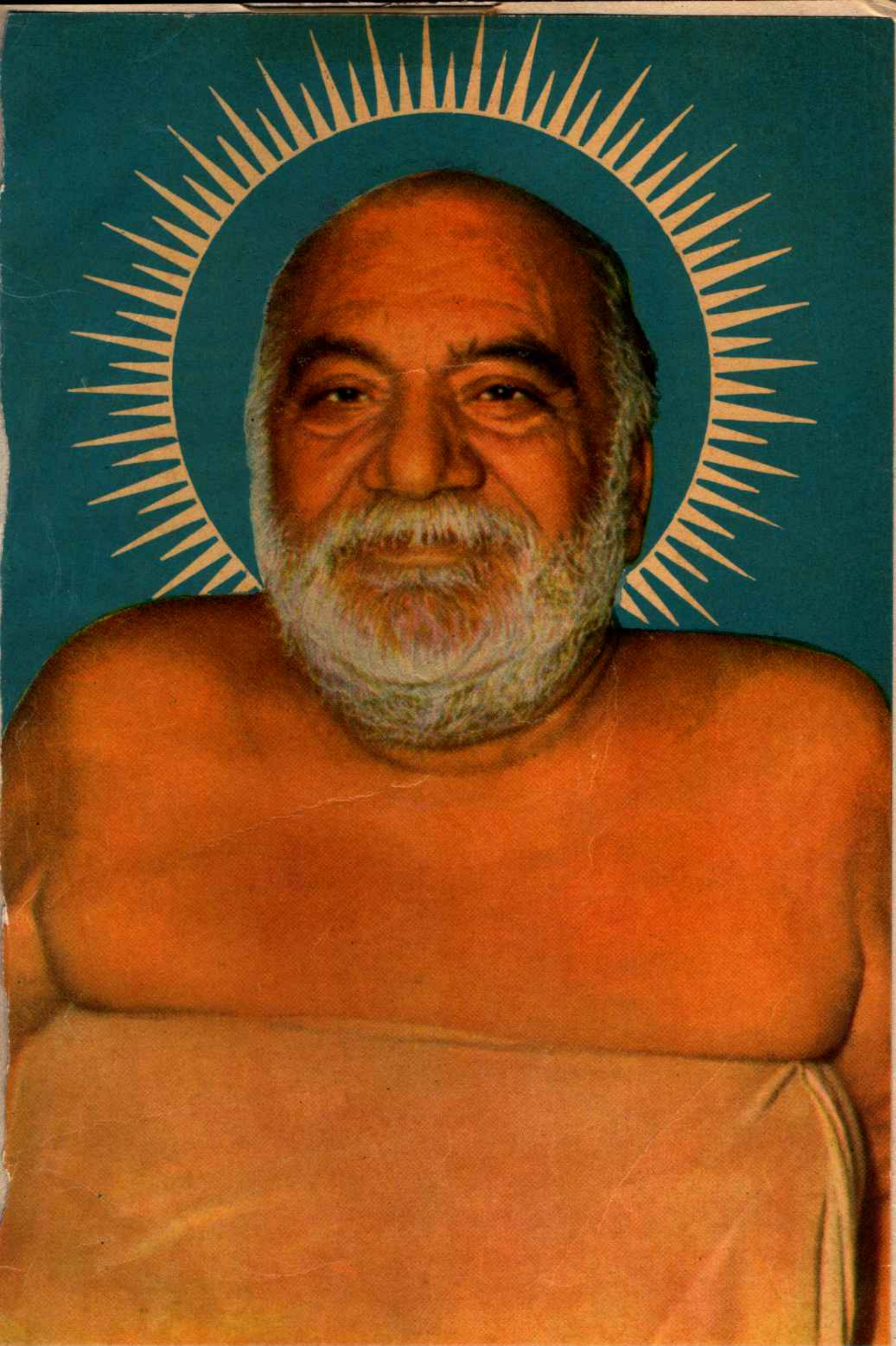
क्र.	नाम पुस्तक	लेखक/टीकाकार	माध्यम	मूल्य
१.	श्री बगलामुखी रहस्यम्	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज पीताम्बरा-पीठ	संस्कृत	१८–००
२.	पञ्चोपनिषद् (प्रकाश भाष्य)	" " "	"	४-५०
३.	प्रश्नोपनिषद् (प्रकाश भाष्य)	" " "	"	१–००
४.	आनन्दलहरी शङ्कराचार्य	श्री रामकवि डिण्डिम भाष्य एवं गोपाल सुन्दरी टीका	"	७-००
५.	नारदीय शिक्षा नारदमुनि विरचित	भट्ट शोभाकर विरचित शिक्षा विवरणोपेता टीकासहित	"	१–५०
६.	श्री महात्रिपुरसुन्दरी पूजापद्धति	राष्ट्रगुरु पूज्यपाद १००८ श्री स्वामीजी महाराज	"	५–००
७.	कामकला विलास	पुण्यानन्दनाथ	"	५–००
८.	महाविद्याचतुष्टयम् (तारा-धूमावती भुवनेश्वरी-मातङ्गी)	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	"	८–००
९.	रेणुका–तंत्रम्	" " "	"	६–००
१०.	शरभ-तंत्रम्	" " "	"	५-००
११.	श्री विद्यारत्नसूत्रम् गौडपादाचार्य कृत	श्री शंकरारण्यमुनिकृत दीपिका सहितम्	"	३–००
१२.	पञ्चस्तवी	" " "	"	०–५०
१३.	तांत्रिक–पञ्चांग	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	"	७–००
१४.	घेरण्ड संहिता घेरण्ड मुनि	" "	संस्कृत हिन्दी	५-००

क्र. नाम पुस्तक	लेखक/टीकाकार	माध्यम	मूल्य
१५. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् शाक्त दर्शन	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	हिन्दी	२-००
१६. ईश्वर गीता कूर्मपुराणान्तर्गत	" "	हिन्दी	६-००
१७. वैदिक-उपदेश	" "	" "	५-००
१८. वैदिक-उपदेश	अनु श्री जी. एन. पिंगले	अंग्रेजी	१५-००
१९. अथर्ववेदाङ्ग ज्योतिष	अनु. पं. छोटेलाल शर्मा आचार्य पं. ओं. नारायण द्विवेदी	हिन्दी	१-००
२०. पुरश्चरण पद्धति	स्व. योगीन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति शास्त्री	"	२-५०
२१. लेख-संग्रह	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	"	१२-००
२२. वेदान्त प्रबोध सत्यबोधाश्रम प्रणीत	अनु डा. शिवशरण शर्मा	संस्कृत-हिन्दी	२-००
२३. सिद्धान्त रहस्य	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	हिन्दी	३-००
२४. सिद्धान्त रहस्य	अनु. श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी	संस्कृत	५-००
२५. सिद्धान्त रहस्य	अनु. सी. डी. पान्डे	अंग्रेजी	५-००
सिद्धान्त रहस्य	अनु. डा. अयाचित	मराठी	यंत्रस्थ
२६. सौंदर्य लहरी पद्यानुवाद	अनु. स्व. फौजदार बलवीरसिंह	पद्य हिंन्दी	१-००
५७. परश्चरण	श्री सूर्यप्रकाश गोस्वामी	पद्य	१-००
२८. त्रिपुरा महिम्न स्तोत्र	स्व योगीन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति शास्त्री	संस्कृत-हिन्दी	३-००
२९. चिद्-विलास (श्रीविद्या रहस्य)	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	"	१-५०
३०. चिद्-विलास	अनु. डॉ० योगेश मिश्र	अंग्रेजी सजिल्द	३-३० ७-००
३१. सप्तविंशति रहस्यम्	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज	संस्कृत	७-००
३२. बातुलनाथ सूत्र अनन्तशक्तिपादकृत	पं. कृष्णानन्द बुधौलिया	संस्कृत-हिन्दी	२-००

क्र. नाम पुस्तक	लेखक/टीकाकार	माध्यम	मूल्य
३३. शिवसूत्रं-भक्तिसूत्रञ्च	राष्ट्रगुरु १००८ श्री स्वामीजी महाराज ऋज्वर्थ बोधिनी कृति	संस्कृत	१-००
३४. शिवसूत्रं स्पंदकारिका	किशोरीलाल चउदा	संस्कृत-हिन्दी	१-५०
३५. मातृका चक्र विवेक	ले. सिद्धश्री स्वतन्त्रानन्दनाथ भाष्य-शिवानन्द अनु. कृष्णानन्द बुधोलिया	"	१५-००
३६. स्वरोदय विज्ञान	संकलनकर्ता मास्टर मोतीलाल	हिन्दी	३-००
३७. योग विज्ञान प्रथम भाग	अज्ञात	"	१६-००
३८. योग विज्ञान द्वितीय भाग	अज्ञात	"	४-००
३९. योग-दर्शन महर्षि पातञ्जलि प्रणीत	अनन्तपण्डितकृत वृति	संस्कृत	२-५०
४०. योग दर्शन महर्षि पातञ्जलि प्रणीत	अनु. डा. योगेश मिश्र	अंग्रेजी	४-००
४१. छिन्नमस्ता नित्यार्चन	" " "	"	६-००
४२. ताराकर्पूरराजस्तोत्र	" " "	हिन्दी-पद्य	१-५०
४३. केनोपनिषद्	अनु. डा. योगेश मिश्र, जयपुर	हिन्दी	२-००
४४. ईशावास्योपनिषद्	" " "	"	३-००
४५. माण्डूक्योपनिषद्	टीकाकार-पं. कृष्णानन्द बुधोलिया	"	१-७५
४६. कठोपनिषद्	टीकाकार-वदनसिंह	"	५-५०
४७. मुण्डकोपनिषद्	" "	"	६-००
४८. पराप्रवेशिका महामाहेश्वराचार्य क्षेमराज विरचित	टीकाकार-पं कृष्णानन्द बुधोलिया	हिन्दी पद्यानुवाद एवं टीका	०-७५
४९. शाक्त सौरभ	ले. श्री वदनसिंह	हिन्दी	७-००
५०. शाक्त सौरभ (ज्ञान खण्ड)	" "	"	१२-००
५१. ललिता सहस्रनाम	भास्करराय विरचित सौभाग्यभास्कर अनु. कृष्णानन्द बुधोलिया	संस्कृत	३२-००
५२. भैरव-विज्ञान	पं. कृष्णानन्द बुधोलिया	हिन्दी	९-००
५३. प्रश्नोपनिषद्	हिन्दी अनुवाद अनुवादक-कृष्णानन्द बुधोलिया		५-००

क्र. नाम पुस्तक	लेखक /टीकाकार	माध्यम	मूल्य
५४. बह्वृचोपनिषद्	अप्पय दीक्षित कृत संस्कृत भाष्य एवं कृष्णानन्द कृत हिन्दी टीका	संस्कृत-हिन्दी	१-००
५५. भैरव विज्ञान	कृष्णानन्द बुधौलिया	हिन्दी	९-००
५६. तीर्थभारतम्	डॉ. श्री. भा. वर्णेकर	संस्कृत	२०-००
५७. भगवान बटुक भैरव	संकलनकर्ता राधारमण दूर्वार	संस्कृत	२१-००
५८. हनुमत् उपासना	" "	संस्कृत हिन्दी	१५-००
५९. गुरुतत्व एवं पादुकापंचक	गुरुतत्त्व लेखक एवं हिन्दी टीकाकार -पं कृष्णानन्द बुधौलिया	हिन्दी संस्कृत	२०-००

आवश्यकतानुसार मूल्य में परिवर्तन हो सकता है ।



श्री पीताम्बरापीठाधीश्वराः परमपूज्य श्री १००८ श्री स्वामीजी महाराज

वनख

BLESSINGS

Om

I had the privilege of going through this book edited by Dr. S. M. Ayachit. This is yet another feather adding in his cap. The articles by eminent persons in the field compiled here give us a thorough knowledge about the Tantra, Mantra and Sadhana But the article written by the editor himself is of great importance dealing with everything according to its merit and defending scientifically, which gives a good impression of clear ideas on this Tantra, Mantra and chamatkar on which the people nowadays rely and expect from yogis and gurus. He has taken particular care in establishing various ideas and set the book as a fine guidance.

I pray the Almighty to bestow on him a prosperous life and to do more such publications which are a good treasure of knowledge. I request those who are in this field should give a helping hand and encourage him to do good service to the educated elite and to the upliftment of knowledge.

I personally wish him and bless him that Maa Adishakti give him a long life and prosperity in his life.

Om Shanti ! Om Shanti ! Om Shanti !

19-8-1985. (*Dr.*) **Bharadvaj Acharya.**